भाग ४६ संख्या ४

सम्मेलन पत्रिका

८-४-६२

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

सम्मेलन-पत्रिका

[त्रैमासिक]

[भाग--४६, संख्या--४]

आश्विन-मार्गशीर्ष शक १८८२

सम्पादक

ज्योतिप्रसाद मिश्र निर्मल

रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

वार्षिक आठ रुपये } हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग { एक प्रति दो रुपये

विषय-सूची

आचार्य सूर्यनारायण व्यास, पद्मभूषण

कालिदास के समय का समाज-जीवन

कालिदास के साहित्य के व्यापक अनुशीलन के पश्चात् यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि का समय इस देश में आर्यजनों के अभ्युदय-काल में रहा है। ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शास्त्र और दर्शन आदि में पर्याप्त प्रगति हो गई थी, रस-विलास के प्रसाधनों की पर्याप्तता थी। कालिदास के समय में देश में अशांति या निराशा का अवसर नहीं था। आशा और विश्वास का विकसित वातावरण बना हुआ था, इसी पर जीवन का आदर्श स्थित था, वैदिक-विधान नैतिक-आदर्श, मर्यादाशीलता, चरित्र और ज्ञान से उनके काव्य तथा नाटक के पात्र परिमार्जित थे। उनके समय का समाज सुगठित, सुव्यवस्थित एवं सुसम्पन्न था, समाज-व्यवस्था चार वर्णों में विभाजित थी और उसके नियंत्रण, योगक्षेम का उत्तरदायित्व राजा पर रहता था––

चतुर्वर्णमयोलोकस्त्वत्तःसर्वं चतुर्मुखात् (रघु० १०-२२)

इस वाक्य में विष्णु की स्तुति करते हुए लोगों को 'चतुर्वर्णमय' सूचित किया है, और 'नृपस्य वर्णाश्रम पालकं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीतिः' (रघु० १४–६७) में स्पष्ट मनुस्मृति के इस विधान का समर्थन किया है कि राजा का धर्म वर्णाश्रम के संरक्षण का है। इसी प्रकार शाकुन्तल में दुष्यन्त को 'वर्णाश्रमाणां पालयिता' (४–१२) वर्णाश्रम का पालन करने वाला बतलाया है और रघु को 'वर्णाश्रमाणां गुरुः' (रघु० ४–१९) वर्णाश्रम का गुरु कहा है। दुष्यंत को यह प्रमाणपत्र दिया गया है कि उसके शासन में वर्णों में से अत्यन्त नीचे के दर्जे का व्यक्ति भी गलत रास्ते से नहीं जाता है। 'नकश्चित् वर्णानामपथमपकृष्टोपिभजते' (शाकु० ४–१०)। चार वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रियों के विषय में उनके साहित्य में विस्तार से चर्चा उपलब्ध होती है। अन्य के विषय में उतनी नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि इन दो वर्णों का प्रभाव उस समय अधिक बढ़ा हुआ था। क्षत्रियों का शासक और वर्णाश्रम-रक्षक होने के कारण तथा ज्ञान, प्रभाव, प्रतिभा, साधना आदि के कारण ब्राह्मणों का। वैश्यों का वर्चस्व कहीं नहीं दिखाई देता और शूद्रों की स्थिति भी उसी प्रकार साधारण प्रतीत होती है।

जहाँ कालिदास ने अत्यंत तेजस्वी ब्राह्मणों के रूप में समाज में प्रतिष्ठित एवं प्रभाव रखने वाले वसिष्ठ, वाल्मीकि, कण्व, कौत्स, मरीचि, वरतन्तु, च्यवन आदि की चर्चा की है वहाँ विदूषकों के रूप में जो ब्राह्मण पात्र प्रस्तुत किए हैं––वे खाऊ, मजाक करने वाले, राजा के मित्र, चतुर, कुशल साथी, किंतु साधारण प्रतिष्ठा के पुरुष ही हैं। हाँ, राजकुलगुरु, उपाध्याय, आश्रम-

वासी ऋषि, अध्यापक, आचार्य आदि ब्राह्मणों को प्रतिष्ठित रूप में हम देखते हैं। परंतु ब्राह्मण-विदूषकों में उस विशेषता या श्रेष्ठता के दर्शन नहीं होते। आचार-व्यवहार में भी वे प्रथम वर्ग के ब्राह्मण से हीन प्रतीत होते हैं। आश्रम के प्रमुख आचार्य और कुलपति अधिकांश ऋषि-मुनि विशिष्ट प्रकार के आर्य आदर्श के व्यक्ति रहे हैं। उनके आश्रम का वातावरण उनके उच्च-नैतिक वातावरण से अभिभूत रहना स्वाभाविक है, उससे साधारण-समाज, या तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग का सहज अनुमान लगाना सरल नहीं। अवश्य ही आश्रमों का जीवन पवित्र और चरित्र-मर्यादामय रहता था, उसकी रक्षा शासकों के बिना भी आवश्यक रहती थी। जब दुष्यन्त कण्वाश्रम की सीमा में मृगया के लिए चला गया तो आश्रम के अन्तेवासी ब्रह्मचारियों ने उसे सावधान किया था कि—"सावधान! ये आश्रम के मृग हैं, ये अवध्य हैं।' इस पर राजा को सखेद शिकार से विरत होना पड़ा था, आश्रम में युवक ही नहीं बालिकाएँ भी रह सकती थीं और वहाँ ज्ञान-विज्ञान और चरित्र का गठन भारतीय-आदर्श मर्यादा के अनुरूप होता था। इतना ही नहीं आश्रमों में चाहे सादा जीवन, स्वस्थ वातावरण, वल्कल वसन आदि का व्यवहार भले ही होता हो, पर वहाँ का स्नातक, शिक्षित साधारण से लेकर सुधरे हुए सम्पन्न, सुसंस्कृत राजपरिवारों के कुल-शील-संस्कारों से पूर्ण परिचित प्रवीण ही होता था। शकुंतला इसका आदर्श उदाहरण है। वह ऋषि-आश्रम की वनकन्या होते हुए भी इतनी सुसंस्कृत थी कि सहज ही वह उस समय के सर्व शक्ति-सम्पन्न राजा की महारानी होने के अनुरूप समझी गई, वह केवल वनचारिणी विदुषी ही नहीं थी, आर्य-आदर्श की उदाहरण थी। च्यवन के आश्रम में पुरुरवा के पुत्र आयु का समस्त शिक्षण-संस्कार हुआ है, वहाँ शास्त्रीय ज्ञान वेद-वेदांग की शिक्षा के साथ ही क्षत्रियों के राजकुमारों को शस्त्रास्त्र-ज्ञान, समर-कौशल का अध्ययन भी करवाया जाता था। आयु को च्यवन ने जात-कर्म संस्कार देकर दोनों प्रकार की शिक्षा प्रदान की थी (विक्रमो० ५–११) रघुवंश में कौत्स और वरतन्तु का उदाहरण भी महत्त्व का है। शिक्षा लेने के बाद गुरु-दक्षिणा के लिए १४ कोटि मुद्राएं राजा के कोष से प्राप्त हुई थीं, जिसे राजा ने सहर्ष देना कर्त्तव्य समझा था। यह उन आचार्यों की प्रतिष्ठा, और मर्यादा का उदाहरण ही है। कण्व के आश्रम में हजारों छात्रों को आश्रय प्राप्त होता था। उनके भरण-पोषण के साथ चरित्र-संस्कार का निर्माण और ज्ञान-विज्ञान का दान दिया जाता था। वहाँ का वातावरण अत्यंत मानवता पूर्ण, वात्सल्य-स्नेह से सिक्त रहता था। शकुन्तला आश्रम के वृक्ष-वनलताओं से, जहाँ आत्मीयता रखती थी, वहाँ आश्रम के हरिणों से भी उसका वात्सल्य था, ठीक उसी प्रकार स्वयं कुलपति कण्व का वीतराग होते हुए भी विदाई के समय गद्गद् हो जाना इसका प्रमाण है कि आचार्य और आश्रमवासी जनों में कितना तादात्म्य-सम्बन्ध रहता था। यहाँ शास्त्र-ज्ञान-विज्ञान के साथ, व्यवहार और समाज-जीवन के संस्कार और मानवता के विकास की भी दीक्षा मिलती थी। अध्ययन, लेखन, मनन, कला, कृषि, बागवानी का भी उनके ज्ञान में समावेश रहता था। अवश्य ही मारीच का आश्रम अलग प्रकार के स्वर्गीय वातावरण से पूर्ण, ज्ञान-वैराग्यमय गार्हस्थ्य जीवन का आदर्श प्रतीत होता है। आश्रमों में सामान्यतः प्रातःकाल उठकर वेदध्वनि का क्रम दिखाई देता है। आश्रमों में विरक्त संन्यासी

ही नहीं, गृहस्थ दिखाई देते हैं। वे कर्मकाण्ड, यज्ञ-याग आदि संस्कारों के साथ अतिथि-सत्कार और गृहस्थोचित व्यवहार करते हैं। यथा--

राजन् प्रविश्य प्रतिगृह्यताम् आतिथेयः सत्कारः। (शाकु० १-१२)

० ० ०

अभ्युत्थिताग्निपिशुनैरतिथीनाश्रमोन्मुखान् पुनानम् (रघु० १-५३)

इसी प्रकार राजाओं के द्वार पर, दरबार में भी इन आश्रमवासियों, विद्वानों, छात्रों, ब्रह्मचारियों का विशेष समादर किया जाता है। उनकी आकांक्षाओं को आज्ञा समझ कर पूर्ण किया जाता है। आश्रम के वृक्ष-लताओं की जिस स्नेह-भाव से देखभाल की जाती है वह अपत्य-स्नेह से कम नहीं कही जा सकती।

१. आधारबन्धप्रमुखैः प्रयत्नैः संवर्धितानां सुतनिर्विशेषम् (रघु० ५-६)
२. अस्ति मे सोदर-स्नेहोऽपि एतेषु (आश्रमवृक्षेषु) (शाकु० १-१६)
३. अपत्यैरिव नीवारभागधेयोचितैर्मृगैः (रघु० १-५०)

वृक्ष, लता-पल्लवों से ही नहीं, आश्रमवासी जीवों से भी ऐसे ही स्नेहमय आत्मीय व्यवहारों के उदाहरण प्राप्त होते हैं जिस प्रकार अतिथियों, सहधर्मियों से किए जाते हैं। एक प्रकार से ये आश्रम मानव-निर्माण के आदर्श शिक्षा-क्षेत्र रहे हैं। समाज में इनका स्थान विशिष्ट प्रकार का समादर-पूर्ण रहा है।

निःसन्देह कालिदास ने ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों का वर्णन अधिक विस्तार से किया है। उनके अधिकांश पात्र आदर्श-क्षत्रिय रहे हैं। स्वाभाविक है कि उनके वर्णन में उनके वर्ग का रूप विशद होकर समक्ष आया है। कवि ने अपने क्षत्रियों की कसौटी विशेष रखी है, वह क्षत्रिय को आजन्म शुद्ध देखना चाहता है। उसने क्षत से रक्षण करने वालों को जग-विख्यात 'क्षत्रिय' माना है।

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः (रघु० २-४३)

उनके पात्र, दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम अतिथि, दुष्यन्त सभी आर्य आदर्श के संस्कार-शील-मर्यादा और नीति के प्रतिनिधि हैं। उनका महत्त्व 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः' में स्पष्ट दिखाई देता है। चरित्रशीलता और मर्यादा-प्रवणता के यद्यपि दिलीप, रघु आदि के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, परन्तु "अनिर्वचनीयं परकलत्रम्" के एक सूत्र में उनका उच्च शील समस्त रूप में निश्चित हो जाता है। इसके विपरीत कालिदास ने क्षत्रियों के उक्त आदर्श के विपरीत अग्निवर्ण राजा के दूषित चरित्र पर भी प्रकाश डाल कर यह बतलाया है कि आदर्श मर्यादा के प्रतिकूल चलनेवाले क्षत्रिय के जीवन का कैसा दुष्परिणाम होता है। इसी प्रकार जब एक बार कुशावती नगरी रूपलावण्य से युक्त हो राजप्रासाद के शयन-कक्ष में रात्रि के निबिड़

अंधकार में सहसा प्रविष्ट हो राजा के सम्मुख खड़ी हो जाती है तब रघुवंश के उदात्त-चरित राजा ने सर्वप्रथम उसके इस साहस पर सावधान करते हुए सूचित किया कि 'खबरदार ऐसी कोई बात न कहो जो इस उच्चवंशकी चरित्र-मर्यादा के प्रतिकूल हो, क्योंकि 'स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।'

कालिदास के काल के क्षत्रियों को उचित जातकर्म संस्कार, उपनयन आदि दिए जाते थे और उनकी शिक्षा में धनुर्वेद अथवा सैन्य-शिक्षा का भी समावेश होता था, आश्रमों में यह व्यवस्था रहती थी। ऋषिवर्ग न केवल शास्त्रीय-ज्ञान, कर्मकाण्ड तक ही अध्यापन करते थे, वरन् सैनिक ज्ञान, शस्त्रास्त्र शिक्षण में भी वर्चस्व रखते थे। महाभारत के द्रोणाचार्य आदि की परम्परा, वसिष्ठ के द्वारा राम को दी गई सैन्यशिक्षा का क्रम कवि के काल में आश्रमों में प्रचलित रही है। क्षत्रियों के समस्त संस्कारों पर इन आचार्यों का अधिकार रहता था। क्षत्रियों में मृगया की प्रवृत्ति रहती थी, प्रायः राजागणों में बहु-विवाह प्रथा भी प्रचलित रही है (बहुवल्लभा राजानः श्रूयन्ते—शाकुं० ३-१८) पर वह सर्वसाधारण समाज में शायद उतनी स्वीकृत नहीं थी, क्योंकि राजाओं में ही बहुपत्नी-प्रथा 'श्रूयते' सुनी जाती थी। क्षत्रियों में शराब पीने की प्रवृत्ति अवश्य रही है। अग्निमित्र की महारानी इरावती और रघु के सैनिकों में प्रयोग करने का उल्लेख मिलता है। ब्राह्मणों का सम्मान, यज्ञयागों की प्रवृत्ति, दिग्विजय की रुचि, अपनी प्रजा के प्रति संतान की तरह व्यवहार (स पिता, पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः), ब्राह्मणों, आश्रमों की सुरक्षा एवं योगक्षेम का उत्तरदायित्व क्षत्रियों पर रहता था। न केवल पुरुष ही, क्षत्रिय महिलाएं भी ज्ञान-विज्ञान, शस्त्रास्त्र में निपुण, शील-संस्कार से युक्त कला-कौशल में प्रवीण रहती थीं। पुरोहितों, मुनियों का प्रभाव, शाप का भय, इन पर भी रहता था। वे पति-सहचारिणी, युद्ध में साथ देने वाली स्वाभिमानिनी और प्रायः पर्दा भी करती थीं।

कालिदास के साहित्य में वैश्यों की चर्चा अधिक नहीं मिलती। कहीं-कहीं राजा के द्वारा व्यापारियों के व्यापार-मार्ग की रक्षा-व्यवस्था का संकेत प्राप्त होता है। अतिथि-राजा ने अपनी शासन-प्रवीणता के अनुरूप वैश्यों को भय-रहित व्यापार करने की व्यवस्था की थी। वह व्यापारी नदी की ओर प्रवास करते हुए यही अनुभव करता था कि अपने घर के दर्वाजा के पास की छोटी सी बावड़ी पर ही आया है, और पहाड़ी की ओर प्रवास करते हुए भी वह यही समझता था कि जैसे अपने बगीचे या घर में ही घूम रहा है। (रघु० १७-६४) अर्थात् व्यापारी के लिए उस काल के शासन में कहीं भी भय का कारण नहीं था, न कोई स्थान व्यापारी या समृद्ध-व्यक्ति के लिए अगम्य ही था।

शाकुन्तल में धनमित्र नामक एक व्यापारी की चर्चा है, जो समुद्र द्वारा व्यापार करता था। उसके लिए दुष्यन्त यह अनुमान करता है कि शायद उसके एकाधिक स्त्रियां होंगी—क्योंकि सम्पन्नों में यह प्रवृत्ति रहना अस्वाभाविक नहीं समझी जाती थी। व्यापार की आय का छठा भाग शासक को देना पड़ता था (रघु० १७-६५)। यद्यपि शासन द्वारा व्यापार की सुविधाएं सुलभ होती थीं, पर व्यापारी को अपने साथ (काफले) की व्यवस्था करनी पड़ती थी, वह भी अपने साथ

शस्त्रास्त्रों का इन्तजाम करके निकलता था। शासन की सुविधा होते हुए भी कभी पथ में संघर्ष करना पड़ता था। ऐसी एक घटना का वर्णन मालविकाग्निमित्र (अंक-४) में आया है। कालिदास के साहित्य से वैश्यों के व्यवहार, संस्कार आदि का कोई अधिक वर्णन सुलभ नहीं होता। इसका अर्थ यह है कि उस समय वैश्यों का प्रभाव अधिक नहीं था। न उन्हें अधिक महत्त्व प्राप्त ही होता था।

इसी प्रकार शूद्रों के सम्बन्ध में भी कवि ने अधिक प्रकाश नहीं डाला है। 'शाकुन्तल' में धीवर के प्रवेश से साधारण रूप से शूद्रों की स्थिति की कल्पना होती है। अँगूठी लेकर राजद्वार में पहुंच कर भी वह उस पर के अक्षरों से अज्ञात दिखाई देता है। पुलिस और इस कक्षा के अधिकारी भी शायद निम्नवर्ग के रहते थे, जिनका ज्ञान भी अत्यन्त सीमित दिखाई देता है। प्रायः कवि के समय के दास-दासी, छोटे अधिकारी, प्रासाद के परिचारक वर्ग प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं, वे साधारण संस्कारी ही रहने चाहिए, पुलिस के सिपाही और थानेदार अधिकारी किसी को पकड़ कर सहज चांटे चिपका देना, उनसे इकबाल करवा लेना, शराब पिलवाना, मौका पाने पर पैसे भी झटक लेना आदि व्यवहार नाटक के पात्रों से प्रकट होते हैं, ये सभी निम्न-स्तरीय लोगों के हैं। सारथी, सूत, दास-दासी, अश्व रक्षक, गज रक्षक आदि की चर्चाओं से भी इस वर्ग के विषय में विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

कालिदास की रचना के नायक-नायिकाएँ ऐसे जीवित प्राणी हैं जिनकी धमनियों में रक्त पूरी उष्णता के साथ प्रवाहित होता है। वे निर्जीव, निर्बल तथा निम्नस्तर के नहीं रहे हैं। इनके काव्य-नाटकों में स्त्री पात्रों का भाग बहुत महत्त्वपूर्ण है और यही उसकी आत्मा है। जितना सुन्दर और मनोहारी वर्णन प्रकृति का है उतना ही महिलाओं का है। उनमें 'जाति' का अंतर नहीं, केवल 'रूप' का ही अंतर है। दोनों में एकात्मता के दर्शन किए जा सकते हैं। उनकी प्रकृति भी उतनी ही सचेतन है, जितनी रमणियाँ हैं। प्रायः स्त्रियों के सौंदर्य-वर्णन में उपमाएँ प्रकृति से ही प्राप्त की गई हैं। विशाल नेत्रों की कर्ण तक विस्तृत वरुनियाँ प्रफुल्लित कुन्द-कुसुम पर आसीन काले भ्रमर की स्मृति जागृत करती हैं। प्रिय-विरह से हतप्रभ रमणियों की तुलना शीतकाल में म्लान कमलपुष्प से या मेघाच्छादित दिन की अधखिली कमलिनी से दी गई है। स्त्रियों की लटकती हुई चोटी की उपमा विन्ध्य पर्वत के नीचे प्रवाहित संकीर्ण धारा वाली नर्मदा के तटों से दी गई है। मेघदूत की नायिका और शकुंतला, पूरी तरह प्रकृति से प्रभावित हैं। प्राकृतिक दृश्यों का अंकन भी आनंदपूर्ण नारी के विकसित सौंदर्य के रूप में ही किया गया है। मेघदूत के रामगिरि की विशेषता इसीलिए है कि जनकतनया के स्नान से वहां का जल पावन बना था।

प्रायः कालिदास ने युवतियों की विशेषता को ही स्वीकार किया है। अल्पवयस्काओं की प्रायः उपेक्षा की है और प्रौढ़ाओं को अल्प अवसर दिया है। उनकी पत्नियां गृहस्थ-कार्य करती हुई दिखाई नहीं देतीं, वह कभी शयन में लीन हैं, श्रृंगार में आसक्त हैं, शाम से अँगड़ाई भरती उठती हैं, उषःकाल के मन्द मलयानिल में महकती हुई अवश्य देख सकते हैं। उनकी स्त्रियों में वर्गीकरण किया जाये तो सम्भवतः यह रूप होगा। जैसे—

वनचर वधू--ग्राम्य-आदिम स्त्रियाँ, ये नर्मदा के दक्षिण वन में विचरित रहती हैं। उन्हें 'भुक्तकुंजे' के प्रयोग से चित्रित किया गया है, जिससे उनके चरित्र पर साधारण प्रकाश पड़ता है।

सिद्धांगना--ये पहाड़ियों पर रहनेवाली, स्वर्ग की कामना से शिवपूजा करती थीं। ये इतनी सरल, सीधी होती थीं कि वर्षाकाल में मेघों के दल आकाश में इकट्ठे होते तो वे समझतीं—तूफान के कारण चट्टानें उड़-उड़कर एकत्रित होती हैं, चकित हो देखा करतीं।

जनपद वधु--इन ग्रामबालाओं की चरित्रशीलता को कवि ने सराहा है और नगर-वधुओं के कटाक्षों से तुलना की है।

पथिक वनिता--विरहिणी-वनिताओं की विशेषता, नगर तथा ग्रामों में भी मिलती है। इनका एक वर्ग ही बन गया है। स्वयं यक्ष की स्त्री भी इसी वर्ग की है। इनके मनोविकारों का वर्णन कवि ने अत्यन्त सतर्कता एवं मनोवैज्ञानिकता के साथ किया है।

पुष्प लावी--मालूम होता है उस समय जहाँ तहाँ पुष्प खिलते रहे हैं, और नागरिकों को भी उनके द्वारा साज-सज्जा का शौक रहा है। कवि ने अपने कार्य में इन्हें बहुत तत्पर बतलाया है, इससे ज्ञात होता है कि पुष्प लाने और वितरित करने का धंदा तब खूब चलता था, अनेक मालिन-तरुणियां इसमें लगी रहती होंगी।

कवि ने अलका की कुछ कन्याओं का सहज चित्रण किया है। पर ये देवकन्याएँ हैं, मानवी से साधारण मिलती-जुलती सी हैं।

नागरिकाएँ--दशपुर और अवंती की लावण्यवती ललनाओं का चित्र कवि ने बड़ी सुंदरता से, रसिकता के साथ किया है। उनकी विलासिता, अभिसार, मनोरंजक नृत्य, शृंगार, ऐश्वर्य, प्रसाधन का विस्तार-पूर्ण चित्र मिलता है। दशपुर की रमणियों के कटाक्ष, मौन-संदेश, रस-राग का तथा अवंती की सौधोत्संग में रहनेवाली रमणियों का, महाकाल की नृत्यांगनाएं तथा शिप्रा के वात से पुलकित युवतियों का रमणीय रूप बतलाया है। पण्य-स्त्री, अभिसारिकाएँ, वेश्याएँ जो कटाक्ष-निक्षेप में निपुण रहती थीं, रत्नाभूषण, शृंगार, प्रसाधन, महावर, सुगंधित-धूप, मुख पर लोध्ररज लगाने, केश-संस्कार से सजी रहती थीं, फूलों का विशेष उपयोग करती थीं। वृक्ष-पौधों को बालकों की तरह सम्हालती थीं। तोते से बातें करना, मयूर को ताल देकर नचाना, संगीत, नृत्य, वीणा में प्रवीणता प्राप्त करना, चित्रकला में नैपुण्य पाना यह विशेषता रहती थी। युवतियों के आकर्षक, मनोहारी रूप और मनोभावों के मर्मज्ञ-कवि को शृंगार का सफल-स्रष्टा तो स्वाभाविक मानना ही होगा, परंतु रमणियों के विविध रूपों और रस-विलास के तथ्यों का स्वाभाविक-वर्णन करके भी वह चरित्र, शील, आर्य-आदर्श का परम भक्त था, यह उसके विविध अवसर पर प्रकट किए साहजिक उद्गारों से स्पष्ट प्रमाणित होता है—

(१) प्रजायै गृहमेधिनाम्; (२) असक्तः सुखमन्वभूत्; (३) अनाकृष्टस्य विषयैः; (४) परिणेतुः प्रसूतये; (५) तत्तद्भूमिपतिः पत्न्यैः दर्शयन्; (६) महिषीसखः; (७) गृहिणीसहायः; (८) स धर्मपत्नीसहितः; (९) अपि स्वदेहात्किमुतेन्द्रियार्थाद्यशोधनानां हि

यशोगरीयः; (१०) तामेकभार्यां परिवादभीरोः साध्वीमपि त्यक्तवतो नृपस्य; (११) आचक्ष्व मत्वा वशिनां रघूणां मनःपरस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः; (१२) युवाप्यनर्थैर्व्यसनैर्विहीनः; (१३) त्वयि मे भावनिबन्धना रतिः; (१४) अनिर्वचनीयं पर कलत्रम्; (१५) परस्त्रीस्पर्श पांसुलः; (१६) अनार्यः परदारव्यवहारः।

इसी प्रकार कालिदास ने कामुकता पर कितने क्रूर कटाक्ष किए हैं, यह 'रघुवंश' के अंतिम सर्ग में अग्निवर्ण के परिचय से स्पष्ट प्रकट है, वहीं कवि लिखता है—

'अग्निवर्ण स्त्रियों का दास था। उसने अपने जीवन के क्षण विहार में ही व्यय किए, कुल-क्रम प्राप्त राज्य की भी चिन्ता नहीं की। कल्याणोत्सुक-प्रजा का पालन करना तो एक ओर, मंत्रियों के आग्रह पर प्रजा को दर्शन भी दिया तो अपने कलंकित मुख का नहीं, केवल पैरों का। खेद है कि वह इतना पतित था कि स्त्रियों की सेवा करने में इन्द्र-कुबेर का सौभाग्य समझता था। अग्निवर्ण ! तूने रघुकुल में क्यों जन्म लिया, तेरी दुश्चरित्रता से कभी न रुकनेवाली मेरी लेखनी भी लज्जित हो आगे नहीं बढ़ना चाहती। कहां 'यमिनां रघूणां मनःपरस्त्रीविमुखप्रवृत्तिः' की भीष्म प्रतिज्ञा, और कहां यह तेरी कामुकता ?'

जिस महाकवि की लेखनी से ऐसी ओजस्विनी वाणी प्रसूत हो सकती है उसे मर्यादा, आदर्श, चरित्र का कितना बड़ा उपासक होना चाहिए, यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी कसौटी पर उसकी महिलाएँ–नायिकाएँ परखी जा सकती हैं।

विशेषतः कालिदास-कालीन महिलाओं में सुदक्षिणा, इन्दुमति, शकुंतला, मालविका, उर्वशी, यक्षिणी, भिक्षुणी, दासिकाएँ, परिचारिकाएँ, शकुन्तला की सहेलियाँ—प्रियंवदा, अनुसूया तथा ऋषि-पत्नियाँ, इरावती, धारिणी, महारानियाँ आदि विशेष हैं। ये संस्कारी, शिक्षिता, चरित्रशीला, चित्रकला वाद्य-संगीत-नृत्य-निपुण, व्यवहार-दक्ष तथा उदार वाणी, आतिथ्य सत्कार-प्रवीण होती थीं। 'अथेहि कन्या परकीय एव' (शाकुं० ४।२२) तथा 'इमे अपि प्रदेये' (श० ४-१८) आदि वाक्यों से स्पष्ट है कि प्रायः कन्याएँ विवाहित ही होती थीं, और 'परायाधन' समझी जाती थीं, कठिनाई से कोई बालिका अविवाहित-जीवन व्यतीत करती थी। दुष्यन्त ने शकुन्तला की सहेलियों से यह पूछा भी था कि—क्या यह आजन्म तपस्विनी का जीवन व्यतीत कर अविवाहित रहना चाहती है ? (शां० १-२२)। इससे यह ज्ञात होता है कि कुछ कन्याएँ ऐसी भी रहती थीं। स्वयं गौतमी इस प्रकार का एक उदाहरण मौजूद है। लड़कियों की पसंदगी भी की जाती थी, माता-पिता की और वर की सम्मति भी अपेक्षित थी। चित्रों के द्वारा वर की अनुमति भी प्राप्त की जाती थी, 'प्रतिकृतिरचनाभ्यः' यह मालविकाग्निमित्रम् में स्पष्ट कहा है। उस समय की बालिकाएँ अत्यल्प-वय में विवाहित नहीं होती थीं और शादी होने पर परिवार में उन्हें स्नेह तथा सम्मान का स्थान प्राप्त होता था। यह ठीक है कि—'बहुवल्लभा राजानः' के अनुसार एकाधिक स्त्रियों से विवाह की राजा को सुविधाएँ सुलभ थीं, 'अभिनवमधुलोलुपो (शा० ५।१) में यही संकेत है। यद्यपि कालिदास ने कुश राजा के युद्ध में वीर गति पाने पर उसकी स्त्री कुमुद्वती को सती होने का उल्लेख किया है, पर संभवतः यह तथा रति के सती होने की कामना का वर्णन हमारी

सम्मति में यह उससे पुरा-काल की प्रथा का प्रतीक मात्र है। उसने अग्निवर्ण की रानी को सती नहीं बनाया है, गर्भिणी होने के सिवा उस पर शासन-संचालन का भार भी दिया है। (रघु० १९-५) स्त्रियाँ उस समय व्रत-उपवास नियमादि का आचरण करती थीं। शकुंतला द्वारा सौभाग्य देव का पूजन, धारिणी द्वारा पुत्र के लिए व्रत, औशिनरी द्वारा प्रियानुरंजन व्रत आदि की चर्चा आई है। शकुंतला आश्रम में बालिका की तरह स्वच्छन्द रहती थी, पर विवाहित होने पर दुष्यन्त के समक्ष जाने के समय उसने पर्दा भी किया था (शाकुं० ५-१३)।

कवि के समय में मनोरंजन के साधन भी पर्याप्त रहते थे।। उत्सव, नाटक, उद्यान, भोजन, नृत्य, संगीत, मनोविनोद। विविध प्रसंगों पर अभिनय के प्रयोग किए जाते थे। राजप्रासादों में संगीत-चित्र के विविध प्रयोग मिलते हैं। स्वयं राजा, राजकुमारियां संगीत-नृत्य, चित्रकला में प्रवीण दिखाई देती हैं। दुष्यन्त का चित्र-प्रेम, अग्निमित्र का चित्र-दर्शन, मालविका का संगीत-नृत्य में नैपुण्य, अग्निवर्ण की गायन-वाद्य में प्रवीणता, कथा-वार्ताओं का प्रयोग प्रायः होता रहता था। लोगों में कथा-कहानियाँ सुनने-कहने का प्रचार था। इसी प्रकार शादी-व्याह के प्रसंग पर समारोह निकालने, (रघु० ७-७) की प्रथा थी। उन समारोहों पर फूल और खीलें बालिकाएँ बरसाती थीं (रघु० २-१०) शादी-व्याह की अन्य रस्में तो उसी प्रकार होती थीं, जिस प्रकार आज भी प्रचलित हैं। महिलाएँ उस समय कौशेय (कोसे) और चीनांशुक भी पहनती थीं, उत्तरीय भी धारण करती थीं, अलंकार-आभूषण भी पहना करती थीं, शुक-सारिका, मोर, हंसों के पालने, चुगाने, उन्हें शिक्षित करने में अनुराग रखती थीं, मकान को सजाना, षट्-रस भोजन का निर्माण, दीवारों पर चित्र अंकित करना, पुष्पस्तवक, ताम्बूल, केशों को चंदन की धूप द्वारा सुगंधित बनाना, पैरों में महावर लगाना, अधरों को रंगना, स्तनों को रंगना, शरीर पर पीठिका मर्दन करना, मुँह पर सुगंधित चूर्ण लगाना, चंदन के सुगंधित जल द्वारा पंखों को सिंचित कर हवा लेना, जलयंत्र (फव्वारों) से स्नान, 'यन्त्रधारागृह' की रचना भी की जाती थी। वेश्याएँ तथा अभिसारिकाएँ भी रहती थीं। देवमंदिरों में नर्तिकाएँ रहती थीं। कवि ने रस-विलास के विपुल-साधनों का वर्णन किया है। नूपुर, मणि मेखला, कांची, रत्नों के विविध अलंकार, कर्णफूल, कटि किंकिणी, बाहुवलय, अभ्यंजन (कज्जल) आदि का वर्णन भी विस्तार-पूर्वक मिलता है। नगर-भवन, प्रासादों की मनोहारी रचना के विविध वर्णनों से काव्य-नाटकों के अनेक पृष्ठ भरे हैं, साकेत का सौन्दर्य और उसका करुण-संहार, अलका का अनुपम वैभव, सप्त मंजिले महल, स्फटिक की फर्शें, सुन्दर-मनोरम उद्यान, विहार स्थल, धनिकों के हर्म्य, मलय मंद-पवन के साथ भवनों से प्रसारित होने वाली सुरक्षित-धूप, संगीत की स्वर लहरी, इसी तरह अवंती के सुधा-धौत भवन, विदिशा और मंदसोर की रूप-रमणियों का संचार, शिप्रा का प्रियतम वात, उद्यान-यौवन, शृंगार, विलास, विष वैद्य, गर्भ वैद्य, कौमार-भृत्य की कुशलता, ज्योतिष के गृह-मुहूर्त पर आस्था, मंत्र, पूजा, टोटके, शाप, वर का महत्त्व, प्रवास के शकुन आदि का विचार, अनुष्ठान, कर्मकाण्ड का महत्व यह कालिदास के काल में स्पष्ट दिखाई देता है। विशेष रूप से परकीया स्त्रियों की चर्चा करना हेय समझा जाता था--'अनिर्वचनीयं परकलत्रम्।' कामुक वृत्ति

के विषय में यद्यपि विलासिता का, श्रृंगार का प्रभूत वर्णन करते हुए भी कवि ने धर्म विरुद्ध काम के आचरण को वर्जित बतलाया है—'अप्यर्थ कामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः'। इसी कारण उसके काल के लोग 'असक्तः सुखमन्वभूत्' आशक्ति से रहित हो सुखोपभोग करते थे। उस समय ऐश्वर्य और सुख-विलासिता के साधन सुलभ थे, फिर भी लोग यश की भावना रखते थे। भौतिक सुख को अधिक महत्व नहीं देते थे। शरीर को नाशवान् समझ कर उसको जीवन में महत्त्व नहीं दिया जाता था—'एकांतविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु (रघु० २-४७) पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष, कर्म संघर्ष, छोटेपन की भावनाएं उत्पन्न नहीं होती थीं, प्रसन्नता से समाधान-पूर्वक रहने, मनोविकृतियों पर नियंत्रण, अपने वचन पर दृढ़ता, प्रामाणिकता, विपरीत आचार-व्यवहार से घृणा, कार्य स्वीकार कर उसकी पूर्ति में निश्चय, सत्य आचरण, श्रेष्ठ जनों की मर्यादा, गुरुजनों के प्रति आदर, कर्तव्यनिष्ठा, आत्म-निर्भरता यह उस समाज की विशेषता थी। इस देश में अनेक संघर्ष ब्राह्मण और क्षत्रिय को लेकर होते रहे हैं। यह कालिदास के पूर्ववर्ती काल में अधिक घातक रहे हैं, परंतु कालिदास ने जिस समय अपना साहित्य निर्माण किया है—मालूम होता है, इन दो वर्गों में परस्पर सौहार्द और सहयोग-भावना बढ़ी हुई थी और कवि ने इसी पर बल देते हुए बतलाया है कि ब्रह्म-बल और क्षात्र-बल का संयोग हो जाने पर वायु और आग का समायोग बन कर सामर्थ्य (शक्ति) बढ़ा देने वाला होगा। (पवनाग्निसमागमोह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा' रघु० ८-४) इसी प्रकार और भी कहा है कि—वसिष्ठ का मंत्र-सामर्थ्य और धनुर्धारी अतिथि नरेश के बाण का संयोग रुक जाने पर कौन सी बात है जो असाध्य रह जावे (रघु० १७-३८) इससे इन दोनों शक्तियों का सहयोग और महत्त्व कलिदास के समय में रहा है। प्रायः क्षत्रिय शासक वर्ग अपने पुत्र के कार्य-भार सम्हालने योग्य हो जाने पर उत्तरदायित्व उस पर डाल कर स्वयं अलग हो जाते थे। युवक की प्रगति को प्रशस्त कर देते थे। जिस प्रकार समाज में चार वर्णों का महत्व प्रतिपादित किया गया है, उसी प्रकार जीवन में भी चार भागों में चार आश्रमों की व्यवस्था की थी।

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम् योगेनान्ते तनुत्यजाम्।। (रघु० १-८)

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन

बुद्धगुणालंकार—एक विशिष्ट सिंहल-काव्य

किसी भी जाति की मानसिक-सामर्थ्य और मौलिक चेतना-शक्ति का लेखा-जोखा लेना हो तो उसकी भाषा से परिचय प्राप्त करना योग्य है और यदि उसके यथार्थ इतिहास की जानकारी प्राप्त करनी हो तो उसके साहित्य से परिचय प्राप्त करना अनिवार्य है ।

सिंहल-द्वीप की सिंहल भाषा के बारे में कुछ समय तक यही विवाद चलता रहा कि वह तमिळ भाषा की तरह द्रविड़ परिवार की भाषा है या हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि उत्तर भारतीय भाषाओं की तरह आर्य-परिवार या हिन्द-यूरोपिय परिवार की ? विद्वानों का अब यही सुनिश्चित मत है कि वह भारत की दक्षिण भाषाओं के भी और दक्षिण में होने के बावजूद सिंहल भाषा एक आर्य-भाषा है।

प्रत्येक भाषा का आधार उसके शब्द-समूह को और उनका भी मूलाधार उस भाषा की वर्णमाला को ही माना जायेगा। इस दृष्टि से सिंहल भाषा के दो रूप हैं : (१) शुद्ध सिंहल तथा (२) मिश्र सिंहल ।

शुद्ध सिंहल में अक्षरों की संख्या केवल बत्तीस रही है। किन्तु जिस वर्तमान मिश्र-सिंहल ने पालि, संस्कृत ही नहीं बल्कि अन्य अनेक दूसरी भाषाओं से भी उपयुक्त शब्दों को लेकर अपने शब्द-भंडार को भरा है, उस वर्तमान सिंहल में वर्णों अथवा उनके लिखित रूप अक्षरों की संख्या पूरी चौवन है ।

हिन्दी में हम 'ए', 'ऐ', से ही 'अय', 'अैय' का काम ले लेते हैं, किन्तु सिंहल में इन दोनों भिन्न उच्चारणों के लिए दो भिन्न अक्षर हैं। बुदुगुणालंकार (बुद्धगुणालंकार) को नागरी अक्षरों में लिखते समय हमारे सामने यह कठिनाई बराबर बनी रही कि इन दोनों उच्चारणों को कैसे लिखें ? पहले तो हमने दो अतिरिक्त चिह्न जोड़ने का विचार किया। क्योंकि सभी अक्षर वर्ण-माला के वर्णों के चिह्नमात्र ही तो हैं। किन्तु बाद में सोचा कि नये उच्चारणों के लिए नये चिह्नों का उपयोग ठीक है। यह 'अय', 'अैय' उच्चारण हिन्दी के लिए कोई नये उच्चारण नहीं हैं। हम हिन्दी में इन्हें यथावश्यकता 'ए' 'ऐ', से ही व्यक्त करते आये हैं। तब नये चिह्नों की क्या आवश्यकता ? भाषा के जानकार वैसे शब्दों का सही उच्चारण जानने के कारण उन्हें ठीक ठीक पढ़-पढ़ा ही लेंगे ।

जहां तक सिंहल भाषा की वर्तमान लिपि की बात है वह भी प्राचीन भारतीय लिपि 'ब्राह्मी' का ही उसी प्रकार विकसित तथा परिवर्तित रूप है, जैसे सभी भारतीय भाषाओं की अन्य समस्त लिपियाँ ।

आकार-प्रकार में सिंहल-लिपि उत्तर भारतीय लिपियों से समानता न रखकर दक्षिण-भारत की तमिळ, तेलुगु, कन्नड़ तथा मळयालम लिपियों से अधिक समानता रखती है। कदाचित् उसका एक कारण यह भी माना ही जा सकता है कि प्राचीन काल में उत्तर भारत में जितने भी ग्रन्थ लिखे जाते थे वे भोज-पत्रों पर स्याही और सामान्य कलम से। किन्तु दक्षिण भारत में जो ग्रन्थ लिखे जाते थे वे ताड़-पत्रों पर और लोहे की कलम से। ताड़पत्रों पर लोहे की कलम से सीधी लकीर खींची ही नहीं जा सकती थी। असम्भव नहीं कि लेखन-सामग्री के ही प्रभाव से सिंहल-लिपि भी दक्षिण भारत की अन्य लिपियों के समान गोलाकार हो गई हो।

सिंहल लिपि का वर्तमान रूप कोई पांच सौ वर्ष पुराना कहा जा सकता है। जहां तक भाषा की बात है सिंहल भी निर्विवाद रूप से एक देशी प्राकृत मात्र ही है। उसके शब्द-भण्डार का अधिकांश मागधी भाषा से ही आया प्रतीत होता है। आरम्भिक शताब्दियों में सिंहल भाषा में मागधी और संस्कृत शब्द व्यवहृत नहीं होते थे। बाद में सिंहल भाषा में संस्कृत शब्दों का प्रचुरता से व्यवहार होने लगा। तेरहवीं शताब्दी के बाद से तो द्रविड़ शब्दों और सोलहवीं शताब्दी के बाद से पुर्तगीज, डच और अंग्रेजी शब्दों तक से सिंहल भाषा ने अपने शब्द-भण्डार को काफी समृद्ध किया है। और जहाँ तक प्राचीन समय की बोलचाल की सिंहल का प्रश्न है, उसमें तो कदाचित् कोई व्याकरण ही नहीं रहा। कम से कम इस समय कोई भी अति प्राचीन व्याकरण विद्यमान नहीं है। सिंहल का प्रथम व्याकरण शायद ईसा की तेरहवीं शताब्दी में ही लिखा गया था।

शुद्ध सिंहल––जिसमें संस्कृत शब्दों का व्यवहार नहीं हुआ है—का एक नमूना हम तेरहवीं शताब्दी के ही व्याकरण-ग्रन्थ सिदत्संग्रा (=सिद्ध+अर्थ+संग्रह) से दे रहे हैं—

"सन सन्द लिङ्ग् विबत् समस् पिय वि पस किरिय लोप देस अगम् पेरुरु देर पेरुलि वैडि अडु निसा नियम् अनियम् अविदुमन विदि वीविसि वैडुरुम् वियरण विदि सपया।"

इसका हिन्दी रूपान्तर इतना ही है कि पुराने आचार्यों ने शब्द-साधन के सिलसिले में बीस प्रकार की व्याकरण-विधियों की चर्चा की है। कौन सी बीस? संज्ञा, सन्धि, लिङ्ग, विभक्ति, समास, प्रकृति (=धातु), प्रत्यय, क्रिया, लोप, आदेश, आगम, पूर्व-रूप, द्वि-रूप, विपर्यास, वृद्धि, हानि, निपात, नियम-विधि, अनियम-विधि तथा अविद्यमान-विधि।

यद्यपि 'सिदत्संग्रा' ने संस्कृत शब्दों का व्यवहार न करने की कसम खा रखी थी तो भी सिंहल-व्याकरण के सामने संस्कृत व्याकरण का अनुसरण करने के अतिरिक्त दूसरा उपाय न था।

अब हम देखें कि मिश्र-सिंहल ने संस्कृत शब्दों का व्यवहार किस उदारता से किया है। १३वीं शताब्दी के ही "पूजावलिय" सदृश ग्रन्थ इसके नमूने पेश करते हैं। एक उद्धरण है—

"सुरभि सुगन्ध पुष्पोहार सफलंकृतवू यूमि भाय ऐ (अय) ति सुगन्ध गन्ध कुटि येहि वैडहिंद महाकरुणा समापत्तिय समवदन सेक। अत्यन्त परिशुद्धवू तमं वहं सेगे दिव्य श्रोत–– धातुवेन् दमसभा मण्डप ये हि उपन्नावु ए कथा-स्वरूपय असावदारा।"

इस उद्धरण से क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि यह तो सिंहल में संस्कृत शब्दों का मिश्रण न होकर संस्कृत में ही सिंहल के विभक्ति-प्रत्यय जोड़ दिये गये हैं? आधुनिक हिन्दी में इन वाक्य-द्वय का अर्थ है—

"सुरभि सुगन्ध पुष्पोहार से समलंकृत भूमि भाग वाली सुगन्ध कुटीर में बैठ कर भगवान्-बुद्ध महाकरुणां भावना में ध्यानारूढ़ हुए। उन्होंने अपने अत्यन्त परिशुद्ध कानों से धर्म-सभा मण्डप में हुई बातचीत सुनी।"

जहाँ तक लिखित साहित्य की बात है, नवीं शताब्दी से पूर्व का लिखा हुआ कोई भी सिंहल-ग्रन्थ इस समय प्राप्त नहीं है। 'दड़दा-वंश' तथा 'बोधि-वंश' आदि ग्रन्थ चौथी शताब्दी तक में लिखे गये बताये जाते हैं। किन्तु वे अब प्राप्य नहीं हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से सिंहल-द्वीप का साहित्य भी अन्य भाषाओं के साहित्य की ही तरह तीन कालों में बाँटा जा सकता है—(१) प्राचीन काल अथवा पुराण-काल (२), द्वितीय काल अथवा मध्य-काल, (३) तृतीय काल अथवा नवीन काल।

प्राचीन काल में सिंहल-द्वीप में जो अधिकांश पुस्तकें लिखी गईं वे पालि में। छठीं शताब्दी के राजा कुमारदास कृत 'जानकी हरण' सदृश काव्य जैसे एकाध ग्रन्थ संस्कृत में और 'अभि-धर्मार्थ-संग्रह-सन्नय' जैसे कोई कोई ग्रन्थ मिश्र-सिंहल में।

शुद्ध सिंहल में लिखे गए जिन दो ग्रन्थों का पता लगता है उनमें एक है 'सियवसलकार'= स्वभाषालंकार और दूसरा होगा 'मयुर-सन्देस' अर्थात् मयूर-सन्देश। इन दोनों ग्रन्थों में से अब एक ही प्राप्य है।

मध्यकाल में जो अनेक ग्रन्थ लिखे गये उनमें 'सन्देश' ग्रन्थों की काफी संख्या है। लगता है, 'मयुर-सन्देश' के महान कवि ने जो परम्परा आरम्भ की, उत्तरकालीन कवियों ने उसे पूरी पूरी तरह निभाया। इस काल में शुद्ध सिंहल के ग्रन्थों के समान ही मिश्र-सिंहल के ग्रन्थों की भी इतनी अधिक रचना हुई कि उसका अवश्यम्भावी परिणाम यही हुआ कि वर्तमान सिंहल भाषा एक बड़ी हद तक संस्कृत-भार-वाहिनी बन गई। १६ वीं शताब्दी से आरम्भ होनेवाली वर्तमान काल के साहित्य पर संस्कृत का यह प्रभाव और भी बढ़ गया।

'बुदुगुणालंकार' नामक काव्य का रचना-काल है बुद्धवर्ष २०१५, अर्थात् ईसवी सन् के हिसाब से पन्द्रहवीं शताब्दी। इस तरह से यह सिंहल-साहित्य के उत्तरमध्यकाल की रचना ही मानी जायेगी।

सौभाग्य से इस ग्रन्थ के रचयिता के बारे में कोई वाद-विवाद नहीं है। 'बुदुगुणालंकार' के ही अन्तिम छन्द में उन्हें महानेत्र प्रासाद मूल (विहार) के अधिपति मैत्रेय महास्थविर कहा गया है। इन्हीं महास्थविर की दूसरी अत्यन्त लोकप्रिय रचना 'लोवैड संग्रा' (=लोकार्थ संग्रह) के अन्तिम छन्द में उन्हें वीदागम विहार के मैत्रेय महास्थविर स्वीकार किया गया है।

इन्हीं महास्थविर की एक काव्यादर्श के ढंग की तीसरी रचना भी है, जिसका नाम है 'मिणिमल' (=माणिक्य माला)।

इन तीनों रचनाओं में 'लोवैड संग्रा' प्रथम और यह 'बुदुगुणालंकार' अन्तिम रचना माननी चाहिए।

इस काव्य का कथा-भाग अत्यन्त सरल और संक्षिप्त है। सर्वप्रथम त्रिरत्न वन्दना है। ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य बुदुगुणानुस्मरण मात्र है—

केय नम् असार य
बव नय् बयंका रय
कियनुव दिवा रै य
कियम् बुदुगुण अलंकार य

(शरीर निस्सार है। भव भयंकर है। रात दिन बुद्धगुणानुस्मरण के लिये बुदुगुणालंकार (ग्रन्थ) की रचना करता हूँ।)

कथा वैशाली नगर के अनुपम वर्णन से आरम्भ होती है। वहाँ के लिच्छवि राजाओं के बारे में लिखा है—

दुसिरि सित् नैव ति
रजनीति दत् गुणै ति
मैदहत् लेस पैव ति
ए रज लिच्चवि निरिन्दु नम् वेति

(जिनका चित्त दुश्चरित्रता से विरत था, जो राजनीति के जानकार तथा गुणवान थे—ऐसे ये लिच्छवी राजागण सभी प्रकार के प्राणियों के प्रति मध्यस्थ-भाव से रहते थे।)

किन्तु किसी के भी सब दिन समान नहीं रहते। इसी न्याय से उन सर्वगुणसम्पन्न लिच्छवियों की वैशाली नगरी पर भी एक बार बड़ी आपत्ति आई—

देवियन् गते हि दि लि
दिसि मेन् जरा विलिपि लि
ए नुवर पवा क लि
कलेक दुब्बिक् दुकेक् विय क लि

(जैसे देवताओं के प्रकाशमान शरीर में भी बुढ़ापे की झुरियां पड़ जाती हैं, उसी प्रकार एक समय वह वैशाली नगर भी दुर्भिक्ष रूपी दुःख के वशीभूत हो गया।)

दुर्भिक्ष-भय ही नहीं वैशाली नगर रोग-भय तथा अमनुष्य (=यक्ष-प्रेतादि) भय का भी शिकार हो गया था।

जनता ने एकत्रित होकर राजागणों से इस दुःख को दूर करने का उपाय करने के लिये कहा। राजागणों ने मन्त्रि-मण्डल में विचार-विमर्श किया। एक मन्त्री ने पूरण काश्यप, ककुध

कल्यायन, अजितकेस कम्बल, निगण्ठनाथ पुत्त, सज्जय वेल्लट्ठि पुत्त, तथा मक्खली गोशाल आदि के बारे में कहा—"हे स्वामी चन्द्र ! यदि इन सब 'बुद्धों' की ठीक तरह से महान पूजा की जाय तो इस नगर के उपद्रव तुरन्त दूर हो जायें।"

एक दूसरे मन्त्री का कहना था—"इन झूठ से ही पेट पालन करने वाले जड़मूर्खों का त्याग कर, चारों वेदों के अखण्ड जानकार ब्राह्मणों को मंगवाकर उनसे दुनियां का कल्याण करावें।"

एक तीसरे मन्त्री का मत था—"झूठे वेद मन्त्रों की रचना करने वाले, जनता को सदैव पथ-भ्रष्ट करने वाले, मिथ्या-दृष्टि वाले ब्राह्मणों से लोगों का कब कल्याण हुआ है ?"

यह मन्त्री देव-वाद का प्रखर विरोधी प्रतीत होता है—

नरलो वै देन पुद ट
रिसि वत दोरिन् दोर सि ट
सुर ययि यनु कुम ट
दुगी याचक यन्ट ए निव ट

(जो इस मनुष्य-लोक में आकर दर दर भटक कर हम लोगों द्वारा दी गई पूजा बड़ी रुचि से ग्रहण करते हैं, ऐसे दुःखी भिखमंगों को 'देवता' या 'सुर' क्यों कहा जाय ?)

वह मन्त्री ब्राह्मण-वाद का भी कट्टर विरोधी है—

गेण बमुणन् क ता
करवन याग मे स ता
सुवन्दैत् वी प ता
अकुरु वपुरण वैन्नं निय ता

(ब्राह्मणों की बात का विश्वास कर लोगों का यज्ञ करना-करवाना निश्चित रूप से ऐसा ही है जैसे कोई सुगन्धित शाली की कामना से (खेत में) कंकर-पत्थर रूपी बीज बोये।)

इस प्रकार कुछ दूसरे मन्त्रियों ने 'शिव' और 'विष्णु' की पूजा करने वालों को खरी-खोटी सुनाने में कसर नहीं रखी।

अन्त में एक मन्त्री ने बुद्ध का गुणानुवाद आरम्भ किया। यह कह कर—

मेर गिरि सरि गिरे क्
रिवि सन्द सदिसि पहने क्
नैत सिन्दु सरि सरे क्
ए मेन् नैत मुनिन्दु सरि उनुने क्

(मेरु पर्वत के समान पर्वत नहीं, सूर्य-चन्द्र के समान प्रदीप नहीं, समुद्र के समान सरोवर नहीं तथा मुनीन्द्र (बुद्ध) के सदृश कोई दूसरा उत्तम (जन) नहीं।)

उस मन्त्री का कहना था—

मिस दिटु मुलु पु ळे
अटङ्ग मङ्ग बिजु व पु ळे
दहम् गङ्ग दिय ळे
ओवुन गेनि सेत दियत पत ळे

(तथागत ने मिथ्या-दृष्टियों की जड़ें उखाड़ कर अष्टांगिक मार्गरूपी बीज का आरोपण किया और क्योंकि उन्होंने धर्म की नदी बहाई, इसलिये उन्हीं से संसार में शान्ति का प्रसार हुआ।)

तथागत का धर्म तो लोकोत्तर था ही, बाद के श्रद्धा-प्रगल्भ बौद्धधर्म में बुद्ध के शरीर को भी लोकोत्तर समझने की जो मान्यता प्रचलित हो गई थी, उसको 'बुदुगुणालंकार' के रचयिता ने उसी रूप में अंगीकार कर लिया प्रतीत होता है। तथागत के शरीर का वर्णन करते हुए कवि महास्थविर का कथन है—

दसट रियनक् ग त
रैगेनै अबलुव अैतुळ त
यन सैतपेत इन्दि त
समत ए मुनि मिसक् वेन नै त

(अट्ठारह हाथ का शरीर लेकर भी यदि कोई सरसों के अन्दर आ-जा सकता है, शयन कर सकता है तथा बैठ सकता है तो यह सामर्थ्य तथागत के अतिरिक्त और किसी में नहीं है।)

हमें तो यह कथन केवल 'असंभव को भी संभव' कर दिखाने की तथागत की सामर्थ्य का उल्लेखमात्र प्रतीत होता है। किन्तु अनेक लोग इस कथन में यह मान्यता भी समाविष्ट समझते हैं कि तथागत का शरीर अट्ठारह हाथ का था। तब किसी भी घर में आना-जाना कैसे होता था? उत्तर विद्यमान है—

एलिपत मिटि वै ये यि
उडेलिपत हो उड ये यि
सत सित तुटु वै ये यि
मुनिन्दु नो नैमीमै गेट वैद ये यि

(तथागत यदि किसी ऐसे घर में पधारते थे जिसका दरवाजा छोटा हो तो या तो चौखट की नीचे की लकड़ी नीचे चली जाती थी या चौखट की ऊपर की लकड़ी ऊपर उठ जाती थी। तथागत बिना झुके ही प्राणियों के चित्त को प्रसन्न करते हुए घर में प्रवेश करते थे।)

यदि यह सब एक 'कवि' की ही आँखों को दिखाई देने वाला 'दर्शन' मात्र है तो हमें इस काव्य-भाषा के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। अन्यथा ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से तो इसकी अय-

थार्थता स्पष्ट ही है। स्वयं पालि में 'सुगत विदान विदत्ति' एक पुस्तिका प्राप्य है, जिसमें इस मान्यता का कि भगवान् बुद्ध का शरीर १८ हाथ का था, कड़ा विरोध किया गया है। इस पूर्व पक्ष को अमान्य ठहराने के लिये दिये गये कुछ कारण इस प्रकार हैं—

(१) १८ हाथ का शरीर किसी यक्ष या प्रेत का अधिक उपयुक्त जंचता है, किसी सर्वाङ्ग सम्पन्न सुन्दर मानवीय बुद्ध-शरीर का नहीं।

(२) 'संयुक्त निकाय' में इसका उल्लेख है कि भगवान् बुद्ध ने महाकाश्यप के साथ अपने चीवर की अदला-बदली की थी। यदि तथागत का अपना शरीर १८ हाथ का होता तो वह एक सामान्य शरीर के महाकाश्यप महास्थविर के साथ अपने चीवर की अदला-बदली कैसे करते ?

(३) दीर्घनिकाय के ही 'सामञ्ञफल सुत्त' में लिखा है कि जब अजातशत्रु राजगृह के आम्रवन में पहुंचा तो वह संघ के बीच बैठे भगवान बुद्ध को पहचान तक न सका था। राजा ने वैद्य जीवक से कई बार प्रश्न किया कि संघ के बीच विराजमान बुद्ध कौन से हैं ? अन्त में जब राजा स्वयं नहीं ही जान सका तो जीवक ने ही उसे बताया। यदि तथागत का शरीर १८ हाथ का होता तो अजातशत्रु को उन्हें पहचानने में क्या कठिनाई होती ?

(४) संयुक्त निकाय का ही उल्लेख है कि जब स्थविर पुक्कसाति ने भगवान् बुद्ध को देखा था तो वह उन्हें पहचान न सका था। उसने उन्हें 'मित्र' कह कर सम्बोधित किया था। जब उससे पूछा गया "कि तुम किसका अनुगमन करते हो ?" उसका उत्तर था—"मैं श्रमण गौतम के धर्म का अनुगमन करता हूँ।" तब भगवान् बुद्ध ने पूछा "क्या तुमने श्रमण गौतम को देखा ? और यदि देखो तो क्या पहचान सकोगे ?" पुक्कसाति का उत्तर था—"नहीं"।

(५) भगवान् बुद्ध ने हाथी के पांवों को सभी के पाँवों से बड़ा कहा है। यदि भगवान् बुद्ध स्वयं १८ हाथ के होते तो उनका यह कहना अयथार्थ होता क्योंकि तब उनका अपना पांव ही शायद हाथी के पांव से भी बड़ा होता।

(६) सुन्दरिक भारद्वाज जब भगवान् बुद्ध के लिये कुछ भेंट लाया तो वह अत्यन्त समीप आने तक भी भगवान् बुद्ध को पहचान न सका था। तब भगवान् ने अपना ढका सिर उघार लिया था। यदि भगवान् बुद्ध का शरीर १८ हाथ का होता तो क्या सुन्दरिक भारद्वाज उन्हें दूर से ही न पहचान लेता ?

(७) अनुश्रुति है कि एक उपासिका ने भगवान् बुद्ध को महाकाश्यप स्थविर समझ लिया था। उसने महाकाश्यप स्थविर के लिये खास तौर से तैयार किया हुआ भोजन भगवान् बुद्ध को ही दान कर दिया था। जब महाकाश्यप भिक्षाटन के लिये आये, तब उपासिका को अपनी गलती मालूम हुई। वह बुद्ध के पीछे दौड़ी और अपना दिया हुआ दान भगवान् बुद्ध से वापिस ले उसे पुनः महाकाश्यप को दिया। इस घटना से महाकाश्यप के हृदय को बड़ी चोट पहुंची। वे हिमालय के जंगलों में जाकर रहने लगे और तथागत का परिनिर्वाण हो चुकने तक वहीं रहे। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद ही वे हिमालय के जंगलों से बाहर आये।

(८) भगवान् बुद्ध का प्रसिद्ध उपदेश है कि मैं इसी छः फुट के शरीर में दुःख का अन्त

करने की शिक्षा देता हूँ। वे कदाचित् ऐसा भी नहीं ही कहते यदि उनका अपना शरीर १८ हाथ का होता।

(९) वेरञ्जा के अकाल के समय आनन्द स्थविर ने भगवान् बुद्ध तथा अन्य भिक्षुओं के भोजन की व्यवस्था की। यदि तथागत का शरीर १८ फुट का होता तो उनकी भोजन-मात्रा भी विशेष होनी चाहिये थी; किन्तु सामान्य मात्रा का ही उल्लेख है।

(१०) जब भगवान् बुद्ध ने दो सप्ताह के लिये आरण्य में एकान्त शयनासन स्वीकार किया था तो एक भिक्षु अपने सामान्य पात्र में भिक्षाटन कर, जो मिलता था उसीसे, भगवान् बुद्ध की सेवा करता था। यदि भगवान् बुद्ध का शरीर विशिष्ट होता तो उनके लिये भोजन की यह मात्रा भी अपर्याप्त ही होती।

(११) 'विनय पिटक' में भिक्षुओं के चीवर आदि तथा भिक्षुओं के निवास आदि के लिये कुटियां इत्यादि बनवाने के जो प्रमाण दिये हैं वे भी उसी बात को स्पष्ट करते हैं कि भगवान् बुद्ध और उनके समकालीन लोगों के शरीर भी आज के लोगों के शरीर जैसे ही थे।

(१२) इधर पुरातत्वविदों ने जेतवनाराम (श्रावस्ती) की खुदाई की है। वहां भगवान् बुद्ध की 'गन्ध कुटी' तक भी मिल गई है। वह कुटी भी किसी सामान्य जन के ही रहने के लिये बनी प्रतीत होती है।

हमने यह चर्चा थोड़े विस्तार से इसीलिये की कि इस बुद्धिवाद-प्रधान श्रेष्ठ काव्य में हमें बुद्ध के शरीर को भी लोकोत्तर मान लेने का पक्ष ही बहुत दुर्बल जंचा।

बुद्ध के गुणों के वर्णन में ही उनकी दानपारमिता आदि पारमिताओं की पूर्ति का अनिवार्य उल्लेख है।

इसके आगे बुद्ध के अर्हत आदि नौ गुणों का अनुस्मरण है।

आगे चलकर बुद्ध के शरीर के बत्तीस लक्षणों का वर्णन है। यहां स्पष्ट रूप से बुद्ध के शरीर को व्याम-मात्र ही स्वीकार किया गया है—

मुलु तुन् लो वि यत्
दनयन् करण नो वि यत्
मुनिन्दुनुगे क यत्
दिगिन् एक पमण वेयि बम्ब यत्

(तीनों लोकों के सभी पण्डितों को निस्तेज कर सकने वाले मुनीन्द्र का शरीर लम्बाई में व्याम-मात्र था।)

इसके आगे तथागत द्वारा किये गये चमत्कारों का वर्णन भी 'कवि' की स्वाभाविक अतिशयोक्तिपूर्ण भाषा में ही है।

इसके आगे देवताओं के गुणों की तुलना में बुद्ध के अनन्त गुणों का वर्णन है।

आगे चलकर उसी अमात्य ने भगवान् बुद्ध के नगर और कुल का वर्णन भी अत्यन्त ओजस्वी भाषा में किया है।

और आगे चलकर सिद्धार्थ के पिता राजा शुद्धोदन और उनकी जननी महामाया देवी की गुण-श्लाघा है।

यशोधरा देवी के रूप-लावण्य का वर्णन करते समय तो कविवर की भाषा काफी स्वच्छन्द ही नहीं, एक स्थल पर तो जैसे एकदम फिसल गई है। कितना तीखा ही नहीं कड़ुआ उपहास है! यशोधरा के 'पीन-पयोधरों' का वर्णन मात्र है—

गन रन् कुम्बु अ यु रू
दुट्टु दुट्टु वनट पिय क रू
कळोत् मुन पियो वु रू
बम्बा बम्बसर वेद ? तह वु रू

(घने स्वर्ण-कुम्भ के समान, हर द्रष्टा का चित्र आकर्षित करने वाले, यशोधरा के पयोधरों का यदि 'ब्रह्मा' ने निर्माण किया होगा तो क्या उसका ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहा होगा।)

आगे परम्परा-मान्य अभिनिष्क्रमण की कथा अत्यन्त संक्षेप में है। इसका कारण शायद यही हो सकता है कि इस सूखे ऐतिहासिक वर्णन में कवि-कौशल दिखाने की विशेष गुंजायश नहीं।

अब सिद्धार्थ को 'बोधि' की प्राप्ति हो चुकी है। 'ब्रह्मा' की प्रार्थना स्वीकार कर वे वाराणसी की ओर प्रस्थान कर रहे हैं। वाराणसी में धर्मचक्र-प्रवर्तन कर और इकसठ अर्हत भिक्षुओं को धर्म-प्रचारार्थ नाना दिशाओं में भेज कर तथागत राजगृह पधारे। वहाँ राजा बिम्बिसार द्वारा बनवाया गया 'वेळुवन' प्रतिग्रहण किया।

वैशाली के लिच्छवियों ने तथागत से उनके नगर में पधारने की प्रार्थना करने के लिये दूत भेजे। तथागत का वैशाली गमन। तथागत की अद्भुत विदाई। लिखा है—

तद दुक् दुर ल न् नोया
सग मोक् सँप दे न् नोया
मोहुम वेतैयि द न् नोया
वैन्द वैन्द बिम हे न् नोया

(भीषण दुःख दूर करने वाले, स्वर्गमोक्ष रूपी सम्पत्ति दे सकने वाले यही भगवान् बुद्ध हैं—इस बात के जानकार लोग जमीन पर गिर गिर कर नमस्कार करते थे।)

तथागत के गंगावतरण का वर्णन भी कवि ने बड़े विस्तार से किया है।

तथागत वैशाली पहुँच गये हैं। उनके प्रताप से वैशाली में मूसलाधार वर्षा हुई जिसका वर्णन कवि ने अत्यन्त सरल शब्दों में किया है—

वैसि वैस वतु रु विय
कुणय कुण हैम दु रु विय
ए पुर पिवितु रु विय
ए वर हैम तुरु लिय द कु रु लिय

(वर्षा होने से पानी बहने लगा। सारी गंदगी दूर हो गई। नगर पवित्र हो गया। उस समय सभी वृक्ष तथा लतायें अंकुरित हो गईं।)

नो हैर विल् वापी
गं हो द पुर वापी
मह गिम् नि वापी
सतुन् सित सतोस कर वापी

(तालाब और वापी तथा नद और नदियां सभी भर गईं। भयानक गर्मी शान्त हो गई। प्राणियों का चित्त संतुष्ट हो गया।)

इसके आगे रतन-सूत्र द्वारा परित्राण धर्म-देशना के विस्तृत वर्णन द्वारा ग्रन्थ की 'इति' हुई है।

मुनीन्द्र के गुणों का अपनी श्रद्धासिक्त, प्रसाद-गुण-पूर्ण भाषा में यथासामर्थ्य संगायन कर चुकने के अनन्तर कवि की एकमात्र अभिलाषा यही है कि लोग बुद्ध को नमस्कार करें। उनके गुण-स्कन्धों के प्रति श्रद्धावान् हों। उनकी शरण ग्रहण करें। उनके सद्धर्म को सुनने का अभ्यास करें। उनके द्वारा किये गये कल्याण-कार्यों पर विचार करें। संसार का दुःख देख इस दुःख से विरत हों। मिथ्या-दृष्टि रूपी क्लेशों (=चित्तमलों) में न पड़ उनके दर्शन की कामना करें। उपोसथ-दिनों में उपोसथ-व्रत धारण करें। पांच शीलों की प्राणों के समान रक्षा करें। दस अकुशल कार्य न करें। दस प्रग्य-क्रिया-वस्तुओं (कुशल कर्मों) को नित्य पूरा करें। पूर्व-चेतना आदि त्रिविध चित्त को पवित्र करें। नाना प्रकार की श्रेष्ठ वस्तुओं से बुद्ध-धातुओं की पूजा करें। सभी हित-अहित प्राणियों के प्रति करुणा-मैत्री की वृद्धि करते हुए स्वर्ग-मोक्ष के सुख देने वाले मुनीन्द्र द्वारा उपदिष्ट पथ का अनुसरण करें।
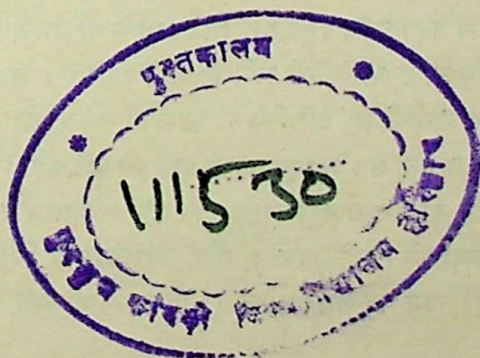
डाक्टर राजनाथ पांडेय

राम-कथा के अन्य-देशीय प्राचीनतम रूप

"रामायण" में राम-कथा का जो स्वरूप प्रतिष्ठित है, वह महर्षि वाल्मीकि को क्या राम का समसामयिक होने से ज्यों का त्यों राम के जीवन-चरित से ही प्राप्त हुआ था? अथवा एक पुरुषोत्तम की खोज में, अपने समसामयिक किसी राम को पाकर, उन आदर्श राम के असाधारण गुणों को प्रकाशित करने के उपयुक्त, उस काल तक प्रचलित अतीत की समस्त राम-कथाओं के नायकों या रामों, दूसरे शब्दों में इतर प्रशस्तजनों के उदात्त कथा-सूत्रों को अपने राम के जीवन से सुसम्बद्ध कर महर्षि ने राम-कथा के वर्तमान स्वरूप की सृष्टि की? इस प्रकार के प्रश्न उठाना संभव है कुछ लोगों को एक अधार्मिक चर्चा जान पड़े, क्योंकि सर्व-सामान्य जन-समाज तो यही-जानता-मानता है कि अत्याचारी रावण के उत्पीड़न से जब चारों ओर हाहाकार मच गया था उस समय "परित्राणाय साधूनां विनाश य च दुष्कृताम्", "धर्म संस्थापनार्थाय" भगवान का रामावतार हुआ था; और महर्षि बाल्मीकि, जैसा कि उनका निज का कथन है, राम के समकालीन थे, और उन्होंने राम का चरित्र जैसा-जैसा देखा-सुना था, अपनी 'रामायण' में वैसा का वैसा अंकित कर दिया। इस संबंध में कुछ बातें मुझे आरंभ में ही कह देनी हैं क्योंकि राम-कथा के जिन प्राचीनतम रूपों का निरूपण करना है उनको समुचित रूप से निरखने और परखने में इनसे पर्याप्त योग मिलेगा।

वर्तमान युग में सूचना-प्रसार के टेलिफोन-रेडियो, तार, फोटोग्राफ, टेलिविजन, समाचार-पत्र आदि आदि के इतने प्रचुर साधनों के होने पर भी, और पत्र-सूचना संवाहकों के दस्ते के दस्ते पीछे लगे रहने पर भी, विनोबाजी की पद-यात्रा के समाचार नगरों से हर जंगली और पहाड़ी गावों में कहां पहुँच पाते हैं? और राम के या वाल्मीकि के समय में तो बड़ी अड़चनें थीं। वाल्मीकि जी राम ज़ी के पीछे-पीछे लगे भी नहीं रहते थे। तब फिर राम-रावण-युद्ध का आँखों-देखा जैसा विवरण उन्हें किस "टेलिविजन" द्वारा प्राप्त हुआ था? क्या राम का समकालीन होने से? जी नहीं; त्रिकालज्ञ होने से। अतएव पहली बात जो मुझे कहनी है वह यही है कि वाल्मीकि राम के समसामयिक रहे हों अथवा नहीं परन्तु कवि और त्रिकालज्ञ वे अवश्य थे। कवि अथवा त्रिकालज्ञ होने ही से राम-कथा को इतनी सूक्ष्मता और विशदता से चित्रित कर सकने की उन्हें अनन्य-क्षमता प्राप्त हुई थी। राम का समकालीन न होने पर भी उनकी महत्ता में कोई फर्क नहीं आता। सच तो यह

है कि वे यदि सचमुच ही राम के समसामयिक नहीं थे तब तो निर्माण और संगठन की ऐसी महती, बल्कि अलौकिक प्रतिभा प्रदर्शित करने के कारण, फर्क आना कौन कहे, उनकी महत्ता में चार चांद लग जाते हैं। हो सकता है कि समसामयिकता की बात का उल्लेख करने की उन्हें उपादेयता महसूस हुई हो, रामायण के वाचकों और श्रोताओं में उनकी वर्णित राम-कथा के प्रति आँखों-देखी जैसी विश्वसनीयता उत्पन्न करने के लिये। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि वाल्मीकि द्वारा "रामायण" की रचना के पहिले भी राम-कथा किसी न किसी रूप में अवश्य प्रचलित रही होगी। मेरा तो अनुमान है कि राम और सीता के विवाह की कथा के जिस रूप को हम दक्खिनी राम-कथा में पाते हैं और जिसका आगे चलकर हम उल्लेख करेंगे, वाल्मीकि की "रामायण" के निर्माण के पहिले से जन-समाज में प्रचलित रही होगी।

दूसरी बात जन-समाज में राम के पूर्ण ब्रह्म और अवतार-रूप की प्रतिष्ठा के संबंध में है। उसका श्रेय "रामायण" के रचयिता से अधिक "रामचरितमानस" के निर्माता को है। मानना होगा कि "रामायण" की रचना के पूर्व और उसके बाद की अनेक सदियों तक जन-समाज में राम के इस अलौकिक अवतारी रूप की चर्चा और अर्चा के कोई प्रमाण नहीं मिलते। यह कहकर न तो मैं तुलसीदास को कुछ अधिक गौरव देने की कल्पना कर रहा हूँ और न आदिकवि के महत्व को राई भर कम करने की ही। तुलसी के हाथों उनके "रामचरितमानस" की राम-कथा को यत्र-तत्र कितने नये मोड़ और नवीन मूल्य प्राप्त हुए, यह तो अलग ही एक बहुत गंभीर विवेचना की अपेक्षा रखने वाला विषय है। इसलिए उसकी चर्चा यहाँ अप्रासंगिक है। "रामायण" की राम-कथा की नियोजना में वाल्मीकि ने जिस अलौकिक प्रतिभा एवं भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठा का परिचय दिया है, उसको ठीक-ठिकाने से समझने के लिये प्रस्तुत विवेचन अनिवार्य है। जिस प्रकार वाल्मीकि से आरंभ हो कर कितनी ही शताब्दियों बाद तुलसी तक विकसित होकर, राम के चरित्र के उस अवताररूप की जन-जीवन में प्रतिष्ठा हुई थी, वैसे ही न जाने किस अतीत से लेकर कितनी ही सदियों बाद तक—वाल्मीकि के हाथों—राम-कथा को उसकी पूर्णता प्राप्त हुई थी।

तीसरी बात यह कि वर्तमान रूप में राम-कथा जैसे अपने में संपूर्ण एक इकाई है, वैसे ही अपने में सर्वथा संपूर्ण अपनी स्वतंत्र इकाई रखने वाले तीन निश्चित कथानक, एक दूसरे से सर्वथा निरपेक्ष, संसार के कई अन्य देशों के पुराणों (Mythology) में, और पुरातन इतिहासों के वीरनायकों के यशोगान तथा "महावदानों" (Epics) में मिलते हैं, जिनसे परिचित होने पर यह स्पष्ट झलकने लगता है कि उन सब को जानने वाले किसी दैवी पुरुष ने सब का परिष्कार कर प्रत्येक को असंभावित मूल्य देकर सब को एक सूत्र में बांध एक ऐसी राम-कथा का निर्माण कर दिया है जिसके सम्मुख वे स्वतंत्र वृत्त एकदम छूंछें जान पड़ते हैं। जान पड़ता है कि उनका रस निकालकर उन्हें फेंक दिया गया हो! साथ ही इस नव-निर्मित राम-कथा के राम, उन समस्त राम-कथाओं के भिन्न-भिन्न नाम वाले रामों में अपने आप देवाधिदेव बन जाते हैं।

तब क्या यह मान लिया जाये कि वाल्मीकि के समकालीन किन्हीं राम के जीवन में घटित "रामायण" की वर्तमान राम-कथा का तीन विभिन्न टुकड़ों में बँटकर, एक दूसरे से नितान्त असम्बद्ध,

काल्डिया, यूनान और उत्तरी जर्मनी जैसे सुदूर देशों में जन-जीवन में न जाने किस अतीत में इतना अधिक प्रचार हो गया कि उनके पुराणों और वीर-काव्यों को भी वाध्य होकर उनका अनुकरण करके उन्हें अपनाना पड़ा था? विश्वास है कि ऐसा कोई नहीं कहेगा। तब क्या वाल्मीकि ने ही यूनानी होमर के काव्यों (इलियेड और औडेस्सी), काल्डिया निवासी मगों या मागियों[1] की देव-गाथाओं, जिनमें "रवन्ना" बिजली और तूफ़ान का देवता था, यूनानी युरिपिडीज़ के आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व लिखे "हिप्पोलाइटस" नाटक तथा ट्यूटनों (पुरातन जर्मनों) की "सगाओं" (शाकाओं) "वौलसंगा-सागा" और "नीबलंग-सागा" को पढ़कर या सुनकर, और सब में से कुछ-कुछ लेकर अपनी "रामायण" की राम-कथा का उस रूप में निर्माण किया? मैं समझता हूँ कि इस प्रकार की उपहासास्पद बात करने की भी धृष्टता शायद ही कोई करेगा। फिर भारतीय राम-कथा और योरोपीय उक्त कथाओं में इतना-इतना साम्य कैसे और कहाँ से आ गया? क्या यह नहीं हो सकता कि तीन-तीन देशों में, तीन भिन्न-भिन्न युगों में, जो घटनाएं छिट-पुट घटी थीं, या साहित्य में एक कथानक का आक र ग्रहण कर चुकी थीं, वे सब की सब एक ही साथ वाल्मीकि के समकालीन भारतीय राम के जीवन में आ घटी थीं? असंभव तो इस विश्व-विधान में कुछ भी नहीं कहा जा सकता; बल्कि धार्मिक दृष्टि से तो एकमात्र सत्य यही माना जाता है, किन्तु अधिक संभव यह लगता है कि यूनान और जर्मनी में एक ओर, और भारत में दूसरी ओर, आ बसे आर्यों के पूर्वज अतीत में जब एक ही जगह एक अविभक्त परिवार में रहते थे, उसी समय वाल्मीकि की राम-कथा के तीनों ही प्रमुख खंड, वर्तमान रूप से बहुत कुछ भिन्न, अपने मौलिक रूप में भिन्न-भिन्न कई कल्पित या वास्तविक महापुरुषों की जीवन-गाथा के रूप में उनके समाज में समादृत हो चुके थे। फिर बाद में दो विपरीत दिशाओं की अपनी यात्रा समाप्त कर, सदा-सदा के लिये एक दूसरे से वियुक्त हो, जाते समय वे जिन-जिन लोक-कथा को साथ लेकर चले थे, वे सब उस समय सोलहो आने समान होती हुई भी, कालान्तर में नई पीढ़ी के नये वातावरण में नये परिवेश और नये प्राण धारण करते-करते विवरण की अनेक भिन्न-रूपताएं ग्रहण कर गईं। यही कारण है कि आज वे ऊपर-ऊपर से देखने पर एक से दूसरी नितान्त भिन्न दिखाई पड़ती हैं, किन्तु देखने वाला यदि देश-काल के उनके कतिपय संकुचित आवरणों को हटाकर देख सके तो उसे उनमें एक अपूर्व आंनन्ददायक साम्य के दर्शन होते हैं। अपने पूर्वजों

---

१. कहीं-कहीं 'मक' (बुरे अर्थ में अहमक शब्द का मक और अरबी का मक्र शब्द) और 'मुक' (जैसे 'कालमुक' का 'मुक') किन्तु प्रायः मग या मागी शब्द काल्डिया के उन पुरोहितों को कहते थे जो रहस्य-विद्या (या जादू-टोना) जानते थे। अंग्रेज़ी भाषा का 'मागिक' या 'मैजिक' (=जादू) शब्द इसी 'मागी' से सम्बद्ध है। मागी या मग पहले काल्डिया (जर्दान, अरब और सिन्ध) में बसे थे, किन्तु आर्यों या सुरों (=सीरियनों) के दबाव से विस्थापित हो पूरब की ओर बढ़े और उस भूमि-भाग तक पहुँच गये जो पुराने समय में मगध कहलाने लगा। --ले०

की इन उदात्त गाथाओं की वेदों में, महावदानों[२] (Epics), अथवा लोक-कथाओं के रूप में श्रुति बनाकर रक्षा करना प्रत्येक देश के महर्षियों का पावन कर्त्तव्य था।

[२]

ऋग्वेद के ऋषियों के पश्चात्, सर्वप्रथम होमर ने उस प्राचीन कथानक को, जो राम-कथा के तीसरे खंड अर्थात् युद्ध-कांड की घटनाओं से मेल खाता है, लेकर इलियेड-काव्य का निर्माण किया, और युरिपिडीज ने (४०४ ई० पू०–४०७ ई० पू०) उस कथानक को लेकर जो राम-कथा के मध्य खंड, अर्थात् अयोध्याकांड की घटनाओं से मेल खाता है, अपने "हिप्पोलाइट्स" (नाटक) द्वारा उस पिता, सौतेली माता और सौतेले पुत्र वाली शाश्वत समस्या को एक बहुत ही चटकीला आकार दिया। वाल्मीकि ने उक्त दोनों ही परस्पर असम्बद्ध कथानकों को नया प्राण दे, और राम-कथा के प्रारंभिक खंड अर्थात् बालकांड की घटना को, जो समय पाकर तीसरे खंड के साथ जुटकर एक नया ही रूप धारण कर चुकी थी, तृतीय खंड से चीरकर उन्हें अलग प्रथम खंड का रूप दे, तीनों ही को एकदम नये ढंग से सँवार कर, तथा उन्हें परस्पर संयुक्त कर, सदा-सदा के लिये अविभाज्य बना किसी से कम महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया। भारतीय संस्कृति तथा भारतीय सामाजिक जीवन को एक निश्चित आकार और आदर्श एवं स्थायित्व प्रदान कर उन्होंने भारतीय राष्ट्र को जो जातीय चेतना दी उसीसे अनुप्रमाणित होकर भारतवर्ष अतीत का यह अपना सारा अमर इतिहास रचने में समर्थ हुआ। अतः अतीत की पिछली कितनी ही शताब्दियों में निर्मित हुआ भारत वाल्मीकि का निर्माण है, ऐसा कहना निश्चित रूप से श्रेयस्कर है।

वाल्मीकि के पूर्ण गौरव को समझने के लिये यहां एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करना आवश्यक होगा।

ऋग्वेद में इन्द्र, इन्द्र की "गायों" यानी सेत-साम-धौरे वारिदों, और उनको चराने वाली सरमा, और "गउओं" को चुराने वाले पणियों का कथानक बड़ा महत्वपूर्ण माना गया है। वेद की अनुक्रमणिका में ही गायों को चराने वाली सरमा को कुतिया कहा गया है। इस प्रकार वेद में ही सरमा का एक रूप मानवी और दूसरा पाशविक है। सरमा अपने मानवी रूप में बहुत सावधान और सचेष्ट, तथा इन्द्र के प्रति अपनी निष्ठा में पूर्णतया अविचल है। गायों को खोजती-खोजती जब वह पणियों के नगर में पहुँचती है तब पणि उसे तरह-तरह के प्रलोभनों से फुसलाना चाहते हैं, परन्तु वह उन्हें फटकार देती है, और इन्द्र को सब सूचना देकर पणियों के इन्द्र द्वारा संहार में बराबर इन्द्र के साथ बनी रहती है। किन्तु वही कुतिया सरमा पणियों के फुसलाने में आकर बात छिपाती है और इन्द्र के पूछने पर झूठ बोल जाती है। परिणाम स्वरूप इन्द्र उसे कस कर लात मारते हैं जिससे पणियों के यहाँ का पिया हुआ दूध उसके मुँह से बाहर निकल पड़ता है। सरमा की वंचकता और दुश्चरित्रता का वह दृढ़ प्रमाण बनता है। परवर्ती साहित्य में नारी के छल और

----

२. मैं Epics को **महावदान और** Classics **को महाकाव्य कहना अधिक उपयुक्त मानता हूँ––लेखक**

चरित्रहीनता की समस्त कहानियों का आदि स्रोत सरमा की यही कथा है। यूनान की रानी हेलेन (यानी यूनानी सरमा) को उसकी रजामंदी से इलिओं के राजकुमार पैरिस (यानी यूनानी-पणि) का अपने पिता की ट्राय-नगरी ले भागना आदि इलियेड काव्य के कथानक का प्रेरणा-स्रोत सरमा कुतिया वाला यही वृत्त है। यह बड़ी मनोरंजक बात है कि संस्कृत का सरमा और पाणि शब्द यूनानी भाषा में क्रमशः हेलेन और पैरिस होते हैं। यह तथ्य भाषाशास्त्रज्ञ प्रमाणित कर चुके हैं। इसी प्रकार सरमा की अविचल निष्ठा की झलक इथाका की रानी पेनिलौप के रूप में होमर के द्वितीय महा-वदान औडेस्सी में मिलती है। अपने महापराक्रमी पति औडिसियेस से बारह वर्षों से विमुक्ता रानी पेनिलौप उनकी वापसी की कोई आशा या सूचना न होने पर भी, अपने ही महल में, रावण के अशोक-वन में वन्दिनी सीता की ही भाँति, उन राजाओं के तमाम प्रलोभनों और उत्पीड़नों से निर्लिप्त रहती है, जो उसके पति की अनुपस्थिति में निडर होकर उसके महल में बरियाईं रह रहे हैं, और उनमें से किसी एक को अपना पति बना लेने के लिये रानी को प्रतिदिन मजबूर करते रहते हैं।

वाल्मीकि ने सीता का चरित्र-निर्माण करते समय सरमा कुतिया तथा होमर की हेलेन को नहीं वरन् मानवी सरमा और होमर की पेनिलौप को याद रखा है। इसी तथ्य की ओर संकेत करने के लिये हमने यह बात तनिक विस्तार में कही है। इसके कारणों का विवेचन मुझे यहां अभीष्ट नहीं है। इसी संदर्भ में एक अन्य महीन बात का उल्लेख हो जाना जरूरी है। पेनिलौप के ही संबंध में एक इस जनापवाद का उल्लेख मिलता है कि औडोसियेस की अनुपस्थिति में पेनि-लौप को अवधान रह गया था, जिसके परिणाम स्वरूप यूनानी देवता "पैन" (शिर से मानव और धड़ से बकरा) का जन्म हुआ था ! जान पड़ता है कि वाल्मीकि को पुरानी बातों की इस बारीकी तक जानकारी थी। लंका में ही सीता की अग्नि-परीक्षा का विधान करके महर्षि वाल्मीकि ने जिस अलौकिक निर्माणकारी प्रतिभा का प्रमाण दिया है वह सचमुच ही अन्यत्र दुर्लभ है। महात्मा तुलसी-दास ने अनेक रामायणों और अनेक रामों का होना बताते हुए भी अपने राम को अनादि, अनन्त और सर्वत्र व्याप्त कहकर एक बड़ी गूढ़ एवं सांकेतिक काव्य-भाषा में इन सभी तथ्यों की अपनी जानकारी व्यक्त की है, और वह सब कुछ व्यंजित कर दिया है, जिसे अपनी भाषा में इतने विस्तार में व्यक्त करने का प्रयास करके भी मैं व्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ --अस्तु।

एक हद तक यह बात भी कही जा सकती है कि वे राम, जिनकी जीवन-गाथा वाल्मीकि की रामायण का कथानक बनी, संभवतः वाल्मीकि के समसामयिक नहीं थे। या यदि किसी राम को वाल्मीकि का समसामयिक मानना हमारे लिये अनिवार्य ही हो तो वे राम वाल्मीकि के समय में एक विशिष्ट मानव मात्र थे। पूर्ववर्ती समस्त रामों (या प्रतापी पूर्वजों) के समस्त उदात्त राष्ट्रीय महावदानों को अपने राम की जीवन-गाथा में प्रतिष्ठित कर वाल्मीकि ने वैसे ही अपने पावन कर्त्तव्य का पालन किया, जैसे होमर ने किया था। "रामायण" के निर्माण के बाद ही राम मर्यादा-पुरुषोत्तम माने जाने लगे। पूर्ण ब्रह्म और अवतार तो वे तब भी नहीं हो पाये थे। जिन्हें इस बात का प्रमाण लेना हो वे बालकांड की भूमिका-स्वरूप उसकी प्रारंभिक योजना का अनुशीलन करके देखें कि कैसे

राज-मुकुट का निर्माण तो पहले हो जाता है, और उस मस्तक की, जिसमें वह राज-मुकुट एक दम चौचक फिट हो जाय, ढुँढ़ाई बाद में की जाती है ! यदि नारद मुनि की वाल्मीकि जी पर कृपा न हो गई होती तो कौन जाने, शायद वह राज-मुकुट मुनि की पर्णकुटी में सदा बिन-पहनाही पड़ा रह जाता "कोन्वस्मिन्साम्प्रतंलोके ?", "चरित्रेण च को युक्तः ?" तथा "आत्मवान् को जित-क्रोधो ?" इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा मर्यादा पुरुषोत्तमत्वरूपी राज-मुकुट का नर्माण करके भी महर्षि वाल्मीकि को यह चिन्ता बनी रहती है कि वह मुकुट पहनाया किसे जाय ? अन्त में नारद के प्रवचन से योग्य पात्र को प्राप्त कर महामुनि कृतार्थ होते हैं।

इस सिलसिले में आखिरी बात यही कहनी है कि यदि धार्मिक भावना की दृष्टि से किन्हीं बन्धुओं को प्रस्तुत विवेचन में राम अथवा वाल्मीकि के प्रति सम्मान की भावना की कमी जान पड़ती हो, और इस कारण उन्हें यह समस्त चर्चा अरुचिकर लग रही हो, तो उनसे यही निवेदन है कि वे कुछ देर तक अपनी आशंका को स्थगित रख कर इस चर्चा को आद्यन्त पढ़ लेने के बाद ही कुछ निर्णय करें। "रामायण" में प्रतिष्ठित राम-कथा की, इन कतिपय प्राचीनतम अन्य देशीय रूपों के साथ तुलनाकर, जब उसे (राम-कथा को) हम शुद्ध ऐतिहासिक विश्लेषण और कथानुशीलन की खराद पर चढ़ाते हैं, तब राम की कथा और वाल्मीकि की प्रतिभा दोनों ही अधिक व्यापक, उदात्त एवं अकल्पित परिवेशों की प्राप्ति कर जगमगा उठते हैं; और दोनों ही अधिक मधुर, मनोहर और मंगलमय बन जाते हैं। इस व्यापार में किसी भी प्रकार के टोटे की कोई संभावना नहीं।

[३]

जिन मूलतः दो (और आगे चलकर तीन बन जाने वाली) प्राचीनतम अन्यदेशीय कथाओं का अभी हमने उल्लेख किया है उनमें सबसे प्राचीन वह है जिसका प्रतिनिधित्व वाल्मीकि रामायण का अंतिम अंश— युद्ध कांड--करता है। अर्थात् रावण का सीता को छल से हरण कर राम की पहुँच के बहुत बाहर समुद्र के बीच बसाई हुई अपनी सोने की लंका नगरी में उसी प्रकार छिपा देना, जिस प्रकार इन्द्र की गायों को पणियों ने, हेलेन को पैरिस ने, वौलसंगा-सागा वाली ब्रिनहिल्ड-वाल्कीरी को फ़ाफ़नीर (दानव) ने हर कर अपने "चमचमाते महल" में बन्द कर दिया था; और फिर राम का हनुमान द्वारा सीता का उसी प्रकार पता पाना, जिस प्रकार वेद में इन्द्र को सरमा द्वारा अपनी गायों के पणियों के बाड़े में होने की सूचना मिली थी, और फिर चढ़ाई, और राम-रावण युद्ध, राम के बाणों से रावण का मारा जाना और अंत में राम का सीता को वापस ले आना। इस प्रकार राम-कथा के इस खंड का बीज-रूप में ऋग्वेद में उल्लेख है। निस्संदेह राम इन्द्र या सूर्य के, सीता सितवर्णा प्रकाश की देवी के और रावण पणियों के प्रति रूप हैं। इसी मूल कथा के दोनों तत्वों को हम होमर के इलियेड और औडेस्सी काव्यों में भी पाते हैं। इसकी कुछ चर्चा हम पहिले कर चुके हैं।

लगभग इतना ही पुराना, किन्तु इससे भी अधिक स्पष्ट, महत्वपूर्ण और हृदयस्पर्शी वह दूसरा कथानक है जिसका प्रतिनिधत्व वाल्मीकि की राम-कथा का मध्य-भाग, अर्थात् राज्य

दशरथ, उनके प्रिय पुत्र राम, राम की विमाता कैकयी तथा उसकी दासी मंथरा वाला कथानक करता है और जिसमें केवल यूनानी दशरथ[3] "थीसीयेस" का ही नहीं अपितु यूनानी राम "हिप्पोलाइटस" और यूनानी कैकयी "फेद्रा" का भी मरण होता है।[3] यदि राम का वन-गमन न हुआ होता तो रामायण में अयोध्याककांड की घटनाओं का युद्धकांड की घटनाओं से तादात्म्य स्थापित नहीं हो सकता था। वास्तव में यही प्राचीन कथानक अथवा रामकथा का मध्यखंड, अयोध्याकांड का कथानक, संसार भर में, परवर्ती साहित्य में आकर सबसे अधिक मार्मिक एवं कवित्वपूर्ण बना है। सौफोक्लीज (४९६ ई० पू०–४०६ ई० पू०), युरिपिडीज एवं तुलसी जैसे अलौकिक प्रतिभाशाली कवियों को, जीवन की सघन विषादान्त वृत्तियों के उन्मेष का सर्वाधिक अवकाश इसी खंड में प्राप्त हुआ था। तुलसीदास ने यदि सर्व प्रमथ अयोध्याकांड के निर्माण में हाथ लगाया था तो इसका कारण यही हो सकता है कि वे इस मर्म को जानते थे। वे जानते थे कि यही अंश राम-कथा की आत्मा है। होमर के महावदान में "औडिपस" का उल्लेख है। इसके अपनी ही माता के पति बनने के घोर प्रारब्ध का सौफोक्लीज ने अपने नाटक "किंग औडिपस" में चित्रण किया है। विद्वानों ने औडिपस की इस कथा को एक प्रतीक और "औडिपस" को सूर्य माना है। मेरी कल्पना है कि वेद का "आदित्य" और होमर की इलियेड का "औडिपस" (Oedipus) शब्द भी एक ही है। वेद में भी इन्द्र प्रातःकाल जिस माता के गर्भ से जन्म लेता उसी माता को सन्ध्या समय वरण करता हुआ बताया गया है। औडिपस की माता का नाम 'जोकास्ती' है जिसका यूनानी भाषा में अर्थ है सायंकालीन सूर्य के इर्द-गिर्द एकत्र होनेवाली बैंगनी रंग की किरण-माला। सौफोक्लीज़ के उक्त नाटक का कथानक, पुत्र का माता का पति बनने तक तो प्रतीकात्मक है, किन्तु एक बार मानवीय रूप धारण कर मूर्तिमान रंगमंचित हो जाने पर सौफोक्लीज को अपने उस कथानक का पर्यवसान करने के लिये मानव की सामाजिक नैतिकता की मर्यादा का अनुसरण करना पड़ता है जिसके परिणाम-स्वरूप उस जघन्य सत्य का उद्घाटन होते ही कि जिसने 'फिनिक्सों" को मार कर राजा लेअस की विधवा रानी का पति बनने के दुर्भाग्य का वरण किया, वही लेअस को मारने वाला उन्हीं का पुत्र औडिपस है जो डेल्फी के देव की भविष्यवाणी के अनुसार पिता का हत्यारा होनेवाला समझा जाने के कारण जन्मते ही "इडा" या "एड्डा" (Edda पृथ्वी—इड़ा ?) पर्वत पर छोड़ दिया गया था! तब जोकास्ती आत्महत्या कर लेती है, और औडिपस अपने ही हाथों अपनी आंखें फोड़कर अंधा हो, अपनी कन्या (और बहन भी!) ऐल्टीगोन की सहायता से धीरे-धीरे अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर "एरिनस" की वीथी में पहुँच कर स्वर्गवासी होता है। सौफ़ोक्लीज से उम्र में कुल बारह वर्ष छोटा होने पर भी, युरिपिडीज की प्रतिभा एवं जगत के प्रति उसकी आस्था का स्वरूप सौफोक्लीज से नितान्त भिन्न था। उन्होंने उसी मूल कथा—माता का पुत्र का पत्नी होने—को अपने नाटक "हिप्पोलाइटस" में कहीं अधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय तथा मानवीय बनाकर

---

३. हमारा अनुमान है कि यूनानी "थीसियेस" (Theseus) और हमारा दशरथ एक ही शब्द है। —लेखक

प्रस्तुत किया। अयोध्याकांड की रामकथा का युरिपिडीज के इस नाटक के साथ तुलनात्मक विवेचन कई अस्पष्ट और रहस्यपूर्ण प्रसंगों को स्पष्ट कर देता है।

तीसरा और अन्तिम खंड जो वाल्मीकि की रामकथा में प्रारंभिक अंश बन गया है, पहिले और दूसरे खंडों से काल-क्रम में कम प्राचीन होने के कारण ही तीसरा माना जा रहा है। कथानक स्वल्प होता हुआ भी घटना-विपुल है। हमारा संकेत बालकांड की ओर है। मैंने इसे प्रथम कथानक अर्थात् युद्धकांड के मूल कथानक से चीर कर अलग किया हुआ माना है क्योंकि मानव के चेतना-बोध के विकास-क्रम में एक समय ऐसा जरूर आया था जब दिन को रात्रि का सन्तान समझने के कारण सुन्दरी राजकुमारी उसे उसके उपयुक्त पति से दूर रखने का प्रयास करने वाले दानव या राजा की पुत्री मानी जाने लगी थी! इसी युग में "रावण की सीता कन्या थीं" जैसा जनापवाद प्रचलित हुआ जान पड़ता है। यह तीसरा (और प्रथम भी) कथानक प्रथम (और रामायण की कथा के तीसरे) कथानक में समाहित होगया था। इसका प्रमाण इससे मिलती-जुलती उत्तरी जर्मनी की "स्वामिभक्त जौन" वाली कहानी है जिसमें ये दोनों ही खंड संयुक्त हो गये हैं। एक दूसरा प्रमाण भी है। "औडेस्सी" में इथाका की रानी पेनिलौप को उसके पति की अनुपस्थिति में कितने ही राजा अपनी पत्नी बनाने के लिये दिन रात वैसे ही प्रयत्न करते दिखाई पड़ते हैं, जैसे विवाहिता सीता को अशोकवन में रावण और उसके नियुक्त किये हुए दास-दासियां दिन-रात डरा-धमका कर और फुसलाकर रावण की पत्नी बन जाना स्वीकार करने के लिये प्रेरित करती रहती हैं। किन्तु पेनिलौप वहाँ जिस धनुष की ओर संकेत करती है और जिसे उठा सकने में वे सब राजे असफल होते हैं, वह धनुष भारतीय राम-कथा में बालकांड में जनकपुरी में मिलता है जिसे उठाने में वहाँ उपस्थित सभी राजे असमर्थ हैं। और जब राम वहाँ पहुँचते हैं तब धनुष को उठाते ही नहीं, उसे तोड़ भी डालते हैं और उसके साथ ही साथ वे उन तमाम राजाओं के अरमान को भी तोड़ देते हैं! शर्त तो केवल धनुष उठाने की थी, तोड़ने की नहीं थी। किन्तु कई कारणों से वाल्मीकि को उसका तोड़ा जाना ही अभीष्ठ था। इसका विवेचन हमने कुछ विस्तार में अन्यत्र किया है। उत्तरी जर्मनी की पौराणिक कथा अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार है—

किसी राजा के महल की चित्रशाला में एक ऐसा चित्र रखा है जिसे देखते ही राजकुमार बेसुध हो जाता है। होश आने पर वह उस सुन्दरी राजकुमारी को देखने और उसे प्राप्त करने के लिये अपने स्वामिभक्त सेवक जौन के साथ जहाज पर रवाना होता है। चलते समय जौन ने जहाज पर बहुत कीमती और अलभ्य वस्तुयें रख छोड़ी थीं। कितने ही महीनों बाद उस राजकुमारी के नगर में पहुँच वे दोनों ही सौदागर बनकर राजा के महल में जाते हैं। वहाँ यह तै पाता है कि और अच्छे सामान जहाज पर हैं जिन्हें राजकुमारी वहीं जाकर देख सकती है। दूसरे दिन राजकुमारी जहाज पर जाती है और उसी समय जौन जहाज का लंगर उठा लेने की आज्ञा देता है। इस प्रकार राजकुमारी को प्राप्त करके वे घर लौट रहे थे तब जौन ने, जो पक्षियों की भाषा समझता था, तीन कौओं का वार्तालाप सुना। एक कौवे का कहना था कि समुद्र-तट पर उतर कर जब वे लोग चलेंगे उस समय पानी में से एक दरियाई घोड़ा निकलकर राजकुमारी की तरफ दौड़ता हुआ आयेगा।

वह घोड़ा मार न डाला गया तो राजकुमार को मार डालेगा। फिर दूसरे कौवे ने कहा कि फिर रास्ते में उसे एक थाली में सोने-चांदी के तारों से बुनी हुई एक जाकेट मिलेगी जो वास्तव में गन्धक और सरखंडे की बनी होगी। अगर उसे किसी ने तुरन्त जलाकर राख नहीं कर दी तो राजकुमार उसे पहन लेगा और जलकर खाक हो जायगा। तीसरे कौवे का कहना था कि राजधानी में पहुँच जाने पर विवाह की दावत वाली रात में जब राजकुमारी नाचती-नाचती एकाएक नीली-पीली हो भूमि पर लोटने लगेगी, उस समय यदि उसकी दाहिनी छाती से तीन बूंद खून निकाल दिया गया तो वह जी उठेगी नहीं तो वहीं उसकी मृत्यु हो जायगी। किन्तु तीनों ही कौवों का कहना था कि यदि किसी से भी ये बातें कह दी गईं तो कहने वाला पत्थर हो जायगा। स्वामिभक्त जौन ने तीनों ही अवसरों पर राजकुमार और राजकुमारी की जान बचाई किन्तु अंतिम बार वाले राजकुमारी के संकट को दूर करने की प्रक्रिया के कारण राजकुमार को उस पर संदेह हो गया। जौन को प्राणदंड मिला किन्तु फाँसी के तख्ते पर पहुंच कर उसने सब बातें कह डालीं; और क्रम-क्रम से वह पैर के अंगूठे से लेकर शिर तक पत्थर हो गया। राजकुमार बहुत दुखी हुआ और उसने जौन की प्रतिमा को अपने शयन-कक्ष में सिरहाने रखवा दिया। अनेक वर्षों बाद राजकुमार के जुड़वा पुत्र हुए और उनके स्पर्श से पत्थर हुआ जौन पुनः सजीव हो गया!

इसीसे मिलती जुलती दक्षिणी राम-कथा में लक्ष्मण वजीर हैं। राजकुमार जिसका नाम राम है, किसी चित्रशाला में नहीं, वरन् स्वप्न में एक राजकुमारी का दर्शन पाता है। लक्ष्मण राम को उस राजकुमारी की प्राप्ति में बड़ी सहायता पहुंचाता है। लौटते समय लक्ष्मण भी, जो जौन के समान पक्षियों की भाषा समझता है, उलूक और उलूकी की बात-चीत सुन-समझ लेता है। यहां भी पहला और दूसरा खतरा राजकुमार राम की ही जान पर है, किन्तु किसी दरियाई घोड़े या गन्धकी सलूके से नहीं, पेड़ की डाल तथा एक दीवाल के गिरने से। तीसरा खतरा यहाँ भी राजकुमारी की जान पर है जो सांप के कारण उपस्थित होता है। लक्ष्मण तीनों ही बार राम और उनकी पत्नी की प्राण रक्षा करता है। राजकुमारी को काटने के पहिले ही लक्ष्मण उस विषधर को अपनी तलवार से दो टूक कर डालता है। उस समय सांप का एक बूंद रक्त राजकुमारी के मस्तक पर गिर पड़ता है। जिसे उस उलूक के कथानुसार, हाथ से नहीं अपनी चीभ से चाटकर ही लक्ष्मण राजकुमारी की प्राण-रक्षा कर सकता था, अतः अपने मुँह पर कपड़ा लपेट कर वह सोई हुई राजकुमारी के मस्तक पर गिरी रक्त की बूंद को चाट ही रहा था कि राम ने देख लिया। राम ने क्रुद्ध होकर लक्ष्मण को इतना दुतकारा कि आत्मग्लानि के कारण वह पत्थर हो गया। संयोग से लक्ष्मण ने उलूक और उलूकी का सारा संवाद एक भोजपत्र पर अंकित कर रखा था। उस पत्र से राम को जब वास्तविकता का पता चला तो वे बहुत दुखी हुए। उसकी प्रस्तर मूर्ति उन्होंने भी शयन-कक्ष में रखवा दी थी। उलूक ने जैसा कहा था, आठ वर्ष के बाद जब रानी को पुत्र लाभ हुआ और वह पुत्र डोलने लगा तो एक दिन उसके कोमल चरणों का स्पर्श पाते ही लक्ष्मण पत्थर से मनुष्य हो गया। इस दक्षिणी राम-कथा में राजकुमारी का नाम नहीं है, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, उसमें और जायसी की "पद्मावति" में बहुत साम्य है। स्मरण रहे

कि जायसी ने राम-कथा के इसी रूप को अपनी "पदुमावति" काव्य की पूर्वार्ध कथा का आधार बनाया है। वाल्मीकि की रामायण का उन्होंने अपने काव्य के उत्तरार्ध की कथा के लिये अनुकरण किया है।

[४]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि राम-कथा के वस्तुतः जो तीन खंड बाल, अयोध्या और युद्धकांडों में अविभक्त हो एक ही कथा के रूप में वर्णित हैं, अन्यत्र ये तीनों ही एक दूसरे से नितान्त निरपेक्ष अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। राम-कथा के इन तीनों ही स्वतंत्र खंडों के साथ तुलनात्मक अनुशीलन करके अपनी राम-कथा को एक अपूर्व कान्ति और नूतन शृंगार प्राप्त होता है; कितने ही नये-नये प्रश्न उठने लगते हैं, और कितने ही पुराने, अब तक सन्तोषजनक उत्तर न पाने के कारण मूक बने प्रश्न भी, अपने आप मुखर हो उठते हैं। इसके अतिरिक्त एक और कारण भी है जिससे इस प्रकार का अनुशीलन आज बहुत जरूरी हो गया है।

यह मानना पड़ेगा कि राम-कथा के अध्ययन का हमारा अब तक समस्त प्रयास धार्मिक भावनाओं से ही अनुप्राणित रहा है। आज जब उस धार्मिक परिवेश से एकदम हट कर ऐसे प्रश्न उठाये जाने लगे हैं कि राजा दशरथ के समान प्रतापी व्यक्ति को कैकयी के सामने ऐसा दुर्बल चित्रित करके उनके चरित्र को गिरा देना क्या उचित माना जा सकता है ? अथवा राजा दशरथ की कौन सी ऐसी कोर थी जिसका दबना बचाने के लिये औचित्य एवं इच्छा के विरुद्ध भी उन्हें राम को बनवास की आज्ञा देनी पड़ी थी ? अथवा सरस्वती के कैकयी की मत फेर देने की बात का विश्वास न करके केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर कैकयी की राम के प्रति जिस प्रीति का स्पष्ट आभास मिलता है उसकी स्वाभाविकता और सत्यता का कुछ भी स्पष्ट संकेत न देना क्या एक खटकने वाली बात नहीं है ? अथवा लंका-विजय के बाद राम का सीता की अग्नि-परीक्षा करा लेने के बाद उनको वनवासित करना राम के लिये कहाँ तक उचित है ? इत्यादि, इत्यादि। मानना होगा कि ऐसे प्रश्न उठाना भले ही न्यायसंगत हो, मूलतः धार्मिक दृष्टि से लिखे, या उस दृष्टि से न लिखे होने पर भी धार्मिक बन गये ग्रन्थों में से ऐसे प्रश्नों के ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक भूमिका से उत्तर पाने की आशा और आग्रह न्याय-संगत नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के प्रश्नों का ठीक तरह से उत्तर देने के लिये राम-कथा की, उसके समस्त संभाव्य संदर्भों के साथ, जानकारी आवश्यक है। इस तरह की जानकारी से हमारे एक स्थिर हो रहे दृष्टिकोण को भी अधिक उदारता और व्यापकता प्राप्त होती है। अपनी पौराणिक कथाओं का, अन्य देशों की पौराणिक कथाओं के साथ इतना सामीप्य देख हम अपने को अकस्मात् उनका करीबी होने का आनन्द प्राप्त करने लगते हैं, जिनको अब तक बिराने समझे बैठे थे। इस प्रकार के नये उल्लास पाकर हमारी बौद्धिक और नैतिक क्षमताओं को भी एक नई जान मिलती है। वास्तव में यही वे नई गिजाएँ हैं जिनसे प्राप्त हुए रस से धर्म की सूखी धमनियों में नये रक्त का संचरण होने से उसे नई चेतना और नई गति-शीलता प्राप्त होती है। इन्हीं विस्तृत संदर्भों के बीच हमें अपने सांस्कृतिक वट-वृक्ष की जड़ों का साक्षात् दर्शन भी होता है। इतनी सदियों पूर्व हमने किन्हीं दो परस्पर विरोधी विचार-धाराओं

में, अपनी संस्कृति, यानी अपने जातीय वातावरण की अनुकूलता के कारण, किस धारा को क्या रूप देकर अपना लिया और किस दूसरे भाव को क्यों त्याग दिया, इसकी प्रत्यक्ष चीन्ह-पहचान करके ही हम ठीक ठीक निर्णय या "निफार" या 'जजमेंट' कर सकते हैं कि हमारे साहित्यिक और सामाजिक जीवन में आज घुस पड़ने के लिये जो असंख्य विदेशीय और विजातीय भावनायें समावह रूप से उफानें ले रही हैं, उनमें से किन-किन का संग्रह और किन-किन का त्याग हमारे लिये वांछनीय है या वांछनीय नहीं है।

इस अनुशीलन का अंतिम लाभ यह भी है कि हम इसके ही द्वारा अपने राष्ट्रीय कवि की प्रतिभा की सच्ची परख कर सकने की क्षमता प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम प्रथम तो बिना जाने-बूझे यह फैसला कर लेते हैं कि दशरथ को कैकयी के सम्मुख घिघियाते हुए दिखाकर कवि ने (वाल्मीकि या तुलसी ने) उनके जैसे वीर पुरुष के चरित्र को बहुत दुर्बल बना दिया है। और फिर हमी प्रश्न भी करते हैं कि क्या दशरथ को ऐसा दुर्बल चित्रित करना कवि का अन्याय नहीं है? किन्तु जब हम कथा के दूसरे विदेशीय रूप को देखते हैं तब कवि की प्रतिभा के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता है। यूनानी कथा के दशरथ, 'थीसियेस' जैसा प्रचंड क्रोधी और अपनी अति सुन्दरी युवा पत्नी यूनानी कैकयी, 'फेद्रा' का वैसा अनुरागी यदि वाल्मीकि या तुलसी ने अपने दशरथ को बनाया होता; और यूनानी राम, "हिप्पोलाइटस" के प्रति उनकी विमाता वाले स्नेह का उसी रूप और उसी मात्रा में आदि कवि ने (और तुलसी ने भी) राम के प्रति कैकयी के 'नेह' का प्रदर्शन किया होता तो, जिस प्रकार यूनानी कथानक में वहां वाले दशरथ, राम और कैकयी तीनों ही का मरण होकर उस कथा का वहीं पर्यवसान हो गया, वैसे ही राम-कथा का यहां भी पर्यवसान हो जाता। अतः दशरथ में ही नहीं, अपेक्षाकृत कैकयी और राम में भी, वाल्मीकि ने (और तुलसी ने भी) जो तथाकथित दुर्बलता किन्तु वास्तविक संयम-शीलता दिखाई है, उसीका यह परिणाम है कि राम-कथा का पावन प्रवाह अप्रतिहत जारी है! यह दुर्बलता यदि है तो भारतीय नारी की भारतीय जल-वायु की दुर्बलता है, भारतीय संस्कृति की दुर्बलता है और मानव की उस कोटि की दुर्बलता है जिस पर हमें लज्जा नहीं गर्व है। हम इस दुर्बलता को अपने यहां संयम कहते हैं। यूनानी कैकेयी की (देवता के शाप ही से सही) वासना की प्रबलता, यूनानी दशरथ के क्रोध और कामुकता की प्रबलता, और यूनानी राम की अपनी दी हुई बात को प्राण देकर भी निबाहने की अद्भुत प्रबलता का परिचय प्राप्त करने पर मेरे इन शब्दों का पूरा मर्म अपने आप स्पष्ट हो जायगा।

डाक्टर भगवतीप्रसाद सिंह

जयसिंह कृत 'भ्रमरगीता दोहावली'

श्रीकृष्णलीला का 'भ्रमरगीत' प्रसंग शताब्दियों से भक्तों तथा शृंगारी परंपरा के कवियों का मुख्य आकर्षण-केन्द्र रहा है। हिन्दी साहित्य में इसका मूल स्रोत 'सूरसागर' में मिलता है जो समकालीन परिस्थितियों और कवियों की व्यक्तिगत रुचि के अनुकूल अपना स्वरूप परिवर्तित करता हुआ आज तक अजस्र रूप से प्रवाहित चला आ रहा है। साधारणतया हिन्दी का 'भ्रमरगीत'-काव्य दो रूपों में उपलब्ध है—प्रबन्ध और मुक्तक। प्रथम वर्ग के भीतर वे रचनाएँ आती हैं जो स्वतंत्र रूप से प्रबंध-शैली में इसी प्रसंग पर लिखी गई हैं। दूसरे प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनका निर्माण स्फुट रूप में हुआ है। इनमें परिणाम की दृष्टि से पहले की अपेक्षा दूसरे वर्ग की रचनाएँ अधिक हैं। अब तक दोनों वर्गों की सैकड़ों कृतियाँ प्रकाश में आ चुकी हैं। उनका आलोचनात्मक परिचय विविध पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त इस विषय पर लिखे गए शोध-प्रबंधों में विस्तारपूर्वक दिया गया है। इससे आधुनिक युग में भी 'भ्रमरगीत' विषयक प्राचीन कथानक की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

इसी परंपरा की एक अप्रकाशित एवं अद्यतन अनिर्दिष्ट कृति है जयसिंह की 'भ्रमर-गीता दोहावली'। इन पंक्तियों के लेखक को दो वर्ष पूर्व यह रचना गोंडा जिले के एक गांव में प्राप्त हुई थी। इसका रचना-काल अज्ञात है। लिपिकाल सं० १८६६ है। रचना-शैली से यह रीतिकालीन-कृति ज्ञात होती है।

'भ्रमरगीता दोहावली' के रचयिता ये जयसिंह कौन थे? इसका पता इस ग्रंथ से नहीं चलता। अतः इनकी पहचान के लिये हमें अनुमान का ही सहारा लेना पड़ता है। हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक स्रोतों में इस नाम के दो व्यक्तियों के वृत्त वर्णित हैं। ये कवियों के उदार आश्रय-दाता होने के साथ ही स्वयं भी उच्चकोटि के कवि थे।

इनमें प्रथम हैं कविवर बिहारी के आश्रयदाता आमेर के मिर्जा राजा जयसिंह, जो अपने पिता महासिंह की मृत्यु के पश्चात् सं० १६७४ में सिंहासनासीन हुए थे। आरंभ में जहांगीर के आदेशानुसार शाहजहां का विरोध करते हुए भी कालान्तर में उसके प्रबल समर्थक बन गए थे। इनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने सं० १६९६ में इन्हें 'मिर्जाराजा' की उपाधि से विभूषित किया था।[1] सं० १७०४ में मुगल सेनाध्यक्ष के रूप में इन्होंने बल्ख और बदख्शां

---

१. पूर्व आधुनिक राजस्थान (डा० रघुवीर सिंह), पृ० ९३

के युद्धों तथा कंधार के तीन घेरों में अपूर्व शौर्य का परिचय दिया था।[1] कविवर बिहारी ने इन्हीं घटनाओं को लक्ष्य करके ये दोहे लिखे थे[2]—

सामाँ सेन सयान की, सबै साहि कैं साथ।
बाहु बली जयसाहि जू, फते तिहारैं हाथ॥
यौं दल काढ़े बलख तैं, तैं जयसिंह भुवाल।
उदर अघसुर कैं परैं, ज्यौं हरि गाइ गुवाल॥
घर घर तुरकिनि हिंदुनी, देति असीस सराहि।
पतिनु राखि चादर चुरी, तैं राखी जयसाहि॥

इनकी उदारता एवं गुणग्राहकता की सराहना करते हुए राजकवि बिहारी कहते हैं—[3]

चलत पाइ निगुनी गुनी, धनु मनि मुत्तिय माल।
भेंट होत जयसाहि के, भाग चाहियत भाल॥

किंतु जयसिंह कवि भी थे इसकी सूचना 'बिहारी सतसई' अथवा किसी अन्य समकालीन स्रोत से नहीं मिलती। कवि रूप में इनका सर्वप्रथम उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' में मिलता है। शिवसिंह जी इनका परिचय देते हुए लिखते[4] हैं—

"यह महाराज सर्वविद्यानिधान कवि कोविदों के कल्पवृक्ष महान् कवि थे। आप ही अपना जीवन चरित्र लिख उस ग्रंथ का नाम 'जयसिंह कल्पद्रुम' रखा है। यह ग्रंथ अवश्य विद्वानों को दर्शनीय है।"

परन्तु इनकी काव्य-शैली के उदाहरण स्वरूप जो छंद 'सरोज' में उद्धृत है वह 'आलम' का है। निश्चय ही उसके अतिरिक्त इनकी कुछ अन्य रचनाएं सरोजकार को उपलब्ध रही होंगी जिनके आधार पर उन्होंने जयसिंह को महान् कवि की पदवी दी थी।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने संभवतः इसी आधार पर जयसिंह की गणना कवियों में करते हुए लिखा था "यह कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे बल्कि इन्होंने 'जयसिंह कल्पद्रुम' नाम से अपना जीवन-चरित भी लिखा है जो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रंथ है। यह अपने युग के असाधारण लोगों में से थे (देखो टाड का राजस्थान, भाग २, पृ० ३५६–६८, कलकत्ता संस्करण, भाग २, पृ० ३९३–४०७)।"[5]

---

१. वही, पृ० १०४
२. बिहारी-रत्नाकर––दो० ७१०, ७११, ७१२
३. बिहारी-रत्नाकर––दो० १५६
४. शिवसिंह सरोज (सप्तम संस्करण), पृ० ४२३
५. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ़ हिन्दुस्तान––हिंदी अनु०, डा० किशोरी लाल गुप्त, पृ० १९८

इनके अतिरिक्त पं० नकछेदी तिवारी ने भी 'कवि कीर्त्ति कलानिधि' में आमेर के महाराज जयसिंह कछवाह विरचित 'जयसिंह कल्पद्रुम' का नामोल्लेख किया है।[1]

दूसरे जयसिंह औरंगजेब के प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वी उदयपुर के महाराज राजसिंह (राजत्व काल सं० १७०९–से सं० १७३७ तक) के पुत्र राणा जयसिंह के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सीसोदिया वंश के राजपूत थे और अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् सं० १७३७ में मेवाड़ के सिंहासन पर बैठे थे।[2]

शिवसिंह जी ने इन दूसरे जयसिंह को भी कवि माना है। उनका कथन है—

"यह महाराज राना राजसिंह के पुत्र महान् कवि और कवि-कोविदों के कल्पवृक्ष थे। एक ग्रंथ 'जयदेव विलास' नामका अपने वंश के राजों के जीवन चरित्र का बनवाया है।"[3]

'सरोज' में इनकी कविता के नमूने नहीं दिये गए हैं, न इनके किसी ग्रंथ का ही उल्लेख है। 'जयदेव विलास' का निर्माण इनके दरबारी कवियों ने किया है, यह उपर्युक्त पंक्तियों से ही स्पष्ट है[4]। इनके आश्रित कवियों में दयाल (दयाराम) और मुरली विशेष उल्लेखनीय हैं। प्रथम ने 'राणा रासो' और द्वितीय ने 'अश्वमेध यज्ञ' की रचना इन्हीं की छत्रछाया में की थी।

जयसिंह नामाराशी उपर्युक्त महानुभावों में से 'भ्रमरगीता दोहावली' के रचियता कौन हैं, यह निश्चय करना कठिन है। प्रस्तुत ग्रंथ के रचयिता इन दोनों से भिन्न कोई तीसरे जयसिंह भी हो सकते हैं जिनका पता अब तक साहित्य-संसार को नहीं है और जिनकी यही एकमात्र उपलब्ध कृति है। किंतु ज्ञातवृत्त कवियों में जयसिंह नामधारी उपर्युक्त दोनों व्यक्तियों में से प्रथम मिर्जा राजा जयसिंह ही इसके संभावित रचयिता प्रतीत होते हैं। इसकी रचना में प्रयुक्त उक्ति वैचित्र्य और वाग्विदग्धता 'सतसई' के प्रेरक तथा प्रशंसक की रुचि एवं प्रवृत्ति के सर्वथा अनुरूप है।

ग्रंथ परिचय—"भ्रमर गीता दोहावली' ९७ दोहों की एक छोटी-सी रचना है। संपूर्ण कथा छः प्रसंगों में विभक्त है। छंद संख्या सहित उनका विवरण इस प्रकार है–

१—कृष्णसंदेश, दोहा १–१०।

२—उद्धव ब्रज गमन, दोहा ११–१३।

३—उद्धव वचन गोपी प्रति, दोहा १४–२४।

४—गोपी के वचन, दोहा २५–५८।

५—उद्धव वचन कृष्ण प्रति, दोहा ५९–९६।

---

१. कवि कीर्त्ति कलानिधि, पृ० २८

२. पूर्व आधुनिक राजस्थान (डा० रघुवीर सिंह), पृ० १४३

३. शिवसिंह सरोज (सप्तम संस्करण), पृ० ४२३

४. ग्रियर्सन महोदय ने भ्रांतिवश 'जयदेव विलास' को इनकी रचना माना है—देखिये, हि० सा० प्र० इ०, पृ० १७३)

६—कृष्ण वचन उद्धव प्रति, दोहा ९७।

इसके कथानक की कुछ प्रमुख विशेषताएँ नीचे दी जाती हैं—

१—व्रजवासियों के सान्निध्य में व्यतीत हुए अपने बाल्यजीवन तथा विरहाग्नि से संतप्त ब्रजांगनाओं की दयनीय दशा का स्मरण कर श्रीकृष्ण भाव-विभोर हो जाते हैं। किंतु उस काल के कतिपय कटु अनुभवों की स्मृति उन्हें स्वयं ब्रज जाने से रोकती है। माता यशोदा की दंड-व्यवस्था और उनके वास्तविक महत्व से अनभिज्ञ गोपियों के अभद्र व्यवहार की स्मृति उनके पैर थाम लेती है। अतः वे अपने अभिन्न सखा उद्धव को व्रजवासियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देने के लिए भेजते हैं।

२—उद्धव को व्रज भेजने में कृष्ण का उद्देश्य उनके ज्ञान-गर्व को दूर करना नहीं वरन् गोपिकाओं के प्रेम की परीक्षा लेना है। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि ब्रह्म के परमार्थिक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होने पर ही गोपियों का मोह दूर हो सकता है और इसी मार्ग से वे विरह-सागर का संतरण कर परमानंद लाभ कर सकती हैं।

३—इसके अंतर्गत कहीं भी भ्रमर का प्रवेश नहीं दिखाया गया है। गोपियों ने उद्धव को उसीका प्रतिरूप मानकर 'मधुप' नाम से संबोधित किया है।

४—संपूर्ण रचना में कहीं भी राधा का नामोल्लेख नहीं है। समस्त संदेश और प्रत्युत्तर कृष्ण एवं गोपियों से ही सम्बन्ध रखते हैं।

५—उद्धव कृष्ण का संदेश मात्र कहते हैं। उसके समर्थन में वे (नंददास के उद्धव की भाँति) कोई दार्शनिक वादविवाद नहीं करते, जिससे उनका तद्विषयक कोई व्यक्तिगत आग्रह व्यक्त होता हो। ब्रज पहुंच कर नंद-यशोदा ब्रजांगनाओं, पशुपक्षियों तथा वन-उपवनों की शोचनीय स्थिति देखकर वे व्याकुल हो जाते हैं।

६—उद्धव श्रीकृष्ण के आदेशानुसार व्रजवासियों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देते हैं और उन्हें ज्योतिस्वरूप निर्गुण ब्रह्म के ध्यान की योगमार्गी प्रक्रिया से अवगत कराते हैं, जिससे सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर वे परमपद प्राप्त कर सकें।

७—गोपियाँ कृष्ण के इस योग-संदेश के प्रत्येक अंग का डटकर प्रत्याख्यान करती हैं। सूरदास की ग्वालिनों की भाँति वे अपने को गंवारिन कहकर ज्ञानमार्गी साधना की अनधिकारिणी नहीं मानती, प्रत्युत अपनी प्रेमसाधना को वे ज्ञान-मार्ग से कहीं उत्कृष्ट बताकर निर्गुण उपासना पद्धति को हेय ठहरातीं हैं। उनके वचनों से कहीं भी हीनभाव व्यक्त नहीं होता।

८—गोपियों की विरह-व्यंजना में भक्ति की प्रधानता है। रीतिकाल में निर्मित अन्य भ्रमर गीतों की भाँति खंडिता नायिका की विषयासक्ति अथवा ऐन्द्रिकता का यहां सर्वथा अभाव है।

९—जयसिंह की गोपियाँ नंददास की गोपियों की भाँति उद्धव के द्वारा प्रस्तुत निर्गुण-साधना के समर्थक तत्वों को अपने विलक्षण तर्कों से इस प्रकार निराधार सिद्ध कर देती हैं कि वे निरुत्तर हो जाते हैं। इस तार्किक विवेचन के साथ ही भावात्मक उक्तियों में गोपियों की भावुकता एवं तन्मयता की सुंदर झाँकी प्रस्तुत की गई है।

१०—उद्धव के द्वारा प्राप्त योगसाधना के अप्रिय संदेशों के बावजूद गोपियों की कृष्ण-दर्शन की आशा अत्यंत बलवती है। कृष्ण द्वारा निश्चित आगमन की अवधि ही उनकी प्राण रक्षा कर रही है। उनका प्रेम इतना स्वार्थ-रहित है कि कुब्जा का वरण कर लेने पर भी वे कृष्ण के दीर्घजीवन की कामना करती हैं।

११—कृष्ण के योगसंदेश भेजने और उद्धव के उनका संवाद वाहक बनने में वे दोनों को व्यक्तिगत रूप से दोषी नहीं ठहरातीं बल्कि इस प्रकार के आचरण में वे उनके जातीय संस्कारों को ही कारण मानती हैं जिसका परिष्कार, उनकी सम्मति में, शिक्षा और वातावरण द्वारा संभव ही नहीं है।

१२—व्रजवासियों को प्रेमपथ से विरत करने के लिये भेजे गए उद्धव उनकी लोकोत्तर स्थिति को देखकर स्वयं प्रेमसागर में निमग्न हो जाते हैं। भृंगी कीट न्यायानुसार गोपियाँ उन्हें आत्मस्वरूप बना लेती हैं। वे कृष्ण-विरह में व्याकुल माता यशोदा, बाबा नन्द, गोपिकाओं और गायों का दर्शन कर अपने को धन्य मानते हैं। व्रज से विदा होते समय वे आत्मविभोर हो जाते हैं।

१३—मथुरा लौटने पर वे कृष्ण के समक्ष व्रज की स्त्रियों के विरहोन्माद के साथ ही नंद यशोदा के वात्सल्य विप्रलंभ का भी मार्मिक शब्द-चित्र प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं कृष्ण वियोग में श्रीहत वृंदावन की भूमि, संतप्त पशुपक्षियों तथा भयावह वन-उपवनों की दयनीय स्थिति से परिचित कराते हैं और उनसे एक बार पुनः व्रज जाने का अनुरोध करते हैं।

१४—कृष्ण के समक्ष अपने दौत्यकर्म की असफलता स्वीकार करते हुए उद्धव किसी प्रकार की ग्लानि का अनुमान नहीं करते। उनकी धारणा है कि व्रजवासियों को प्रेमयोग की उच्च-भूमि से अखिल ज्ञान संदोह ब्रह्मा ही नहीं परात्पर ब्रह्म के लीलावतार स्वयं श्रीकृष्ण भी विचलित नहीं कर सकते।

१५—उद्धव के मुख से व्रजवासियों की विरहाकुलता का संवाद सुनते सुनते कृष्ण तृप्त नहीं होते, वे आधीर होकर साश्रुनयन अपने प्रिय सखा से उस अलौकिक रसमयी कथा को सुनाने का बारंबार अनुरोध करते हैं।

१६—अंत में उद्धव की शिक्षा के अनुसार कृष्ण गोपियों को तनमन संर्मपित करने का वचन देते हैं।

'भ्रमरगीता दोहावली' के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि मुक्तक शैली में विरचित होने पर भी उसमें एक अक्षुण्ण कथा-प्रवाह पाया जाता है। प्रौढ़ एवं परिमार्जित ब्रजभाषा में लिखे गये इसके दोहों में विहारी के दोहों जैसा उक्ति-कौशल तथा कल्पनामाधुर्य मिलता है। भावात्मकता के साथ ही वस्तुव्यंजना एवं वाग्विदग्धता इसकी रचना-शैली की प्रमुख विशेषता है। अलंकारों का प्रयोग भावोत्कर्ष और चमत्कार-प्रदर्शन दोनों दृष्टियों से सफल रहा है। लाक्षणिक अभिव्यंजना के लिए मुहावरों तथा लोकोक्तियों की योजना बड़ी निपुणता के साथ हुई है। जयसिंह ने प्राचीन कथानक लेते हुए भी अपनी प्रतिभा के बल से उसे ऐसी विलक्षणता

एवं रोचकता प्रदान की है जो इस प्रसंग पर लिखे गये किसी अन्य रीतिकालीन काव्य में नहीं पाई जाती। इसमें नंददास की तार्किकता और सूर की भाव-विभोरता के एक साथ ही दर्शन होते हैं, जो भ्रमर-गीत परंपरा की रचनाओं के लिए एक नई बात है।

अनुसंधान करने वालों की जिज्ञासा-निवृत्ति के लिये इस ग्रंथ के कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

ऊधो ब्रज लों जाय कै, बड़ो एक जस लेहु।
ब्रह्म ज्ञान सखियान को, सखा सिखावन देहु॥
खंड खंड या पिंड में, सब ब्रह्मांड देखाय।
मेरो पिंड छड़ाइए, सब घट ब्रह्म बताय॥
जब लगि गोपी नहिं लखैं, अलख निरंजन ठाउँ।
चरवाहो दधि चोर मो, नहीं मिटन को नाँउ॥
कान्ह कही सो कहत हौं, कान करो तजि मान।
घट घट एकै ब्रह्म मैं, गोपी कान्ह कहाँ न॥
घट बिनसे प्रतिबिम्ब को, नहिं दूजी अनुहारि।
कहौ बुलबुला वारि को, कौन पुरुष को नारि॥
गुनि गुनि निर्गुन के गुनन, सुनि सुनि अनहद नाद।
मेटो विरह विषाद तब, भेंटो सहज समाद॥
अष्ट सिद्धि नौ निद्धि मैं, बसि ह्वैहैं तब आनि।
राग रागिनी नित करें, मगन गगन में गानि॥
ऊधो! कही सुनी कहौ, उतर देन की बुद्धि।
हमैं अगम की गम नहीं, निगम न पावत सुद्धि॥
घट घट एकै ब्रह्म तौ, काहि करत उपदेस।
किन पठए? तुम कौन हौ? कासों कहत सँदेस॥
वै निरगुन हम गुनभरी, तुम ऐगुन की खानि।
अब तौ बुंद समुद्र मैं, परी कूबरी जानि॥
निज कर कोमल हरि रची, घास बाँस बन आन।
हम झाँकत सो तृन कुटी, कहा तिरकुटी ध्यान॥
अष्ट सिद्धि नौ निद्धि दधि, चाटत भई बिलाय।
मुक्ति कुती भूँका करै, नँद घर टूका खाय॥
जाहि न रूप न रेख वपु, धरो कूबरी गेहु।
लतमरुवा भृगु को हमैं, नँद दुलरुवा देहु॥
धरनि धरी सोई धरी, धरी रहै कुल कानि।
भईं कनौड़ी कान्ह की, लौंड़ी कहै कि रानि॥

ब्रज वनिता ब्रजपति सोई, ऊधो दिन फल जोय।
पटिया पारत जे हुते, बटिया पारत सोय।।
अलख निरंजन करन के, लखौ न दस्खत चीन्ह।
मंजन करि अंजन नयन, पगन मेहावर दीन्ह।।
बहुत कही गढ़ि छोलि कै, इहाँ उहाँ तकि तूकि।
प्रेम पियूषहिं पान करि, चले मुक्ति घर फूँकि।।
बूड़े प्रेम समुद्र में, निकसे बहुत उपाय।
रोम रोम गद्‌गद गहे, ब्रजवासिन के पाँय।।
मेरी कहा चलाइए, चतुरानन मुख चारि।
उनके प्रेम चऊतरा, तुम आवहु हिय हारि।।
सुनि सुनि बातें तियन की, भरि भरि नैनन नीर।
फिरि फिरि पूछैं फिरि सुनैं, धरि धरि हरि मन धीर।।
मेरी इच्छा सुनु सखा, प्रेम परीछा लेउँ।
तुमरी सिच्छा मन धरी, तन मन गोपिन देउँ।।

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान भारतीय भाषाएँ

हमारी भाषाओं का उद्‌गम बहुत दूर है; इतनी दूर कि वहां तक कल्पना के सहारे ही पहुंच सकते हैं। संसार में इस समय जो साहित्य विभिन्न भाषाओं में उपलब्ध है, वह सब का सब वेदों के प्रादुर्भाव से बहुत बाद का है, और वेदों में भी ऋग्वेद सब से पहले की रचना है। ऋग्वेद के 'मण्डल' और 'सूक्त' उसी तरह हैं, जैसे कि आजकल हम लोग 'अध्याय' और 'प्रकरण' अपने ग्रन्थों में रखते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि वेदों का 'संहिता'— रूप से जब संकलन हुआ, तब हमारे यहाँ लिपि और लेखन-कला का उद्भव तथा विकास हो चुका था। 'संहिता' का प्रयोग 'संग्रह' के अर्थ में ही हुआ है। वेद-मंत्रों में जो लाक्षणिक शब्द-प्रयोग हुए हैं, उन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि भाषा का प्रयोग-सौष्ठव निखर कर उस समय तक कालान्तर रूप में आ चुका था। भाषा का प्रार्दुभाव ही मानव-संसार में एक आश्चर्य की चीज है। भाषा न होती, तो यह ज्ञान-विज्ञान तो दूर, हम अपने साधारण लोक-व्यवहार से भी पशु-पक्षियों से भिन्न न होते। भाषा कैसे बनी, इस पर लोगों ने कल्पनाएँ की हैं। जब हम किसी चीज को नहीं जान पाते, तो भगवान् की लीला, कह कर छोड़ देते हैं। इस तरह वेदों की रचना सचमुच भगवान् की ही देन है, मानव-जगत् को, वैसा विकास भाषा का और फिर वैसे कलात्मक प्रयोग; क्या साधारण चीज है? क्या यह सब तुरन्त हो गया?

वैदिक काल की 'प्राकृत' भाषा—साधारण जनभाषा को 'प्राकृत' कहते हैं। वैदिक काल में सभी 'ऋषि' न थे। बहुत कम 'ऋषि' थे, जिन के नाम अब तक हमारे सामने हैं। उस समय भी साधारण जनता थी; किसान भी थे, मजदूर ('दास' जन) भी थे और शासक (दिवोदास, सुदास जैसे पराक्रमी नेता) भी थे। कुछ 'ऋषि' भी थे। ऋषियों ने मंत्र-रचना जिस भाषा में की, वह उस समय की जनभाषा ही थी; पर उससे कुछ भिन्न भी थी। यह रूप-भेद स्वरूपतः नहीं; परिष्कार-जन्य तथा प्रयोगवैशिष्टच-कृत था। आज भी साधारण जनभाषा में और साहित्यिक भाषा में उतना ही अन्तर है। बाजार की हिन्दी में और साहित्यिक हिन्दी में कितना अन्तर है? इस अन्तर के कारण नाम-भेद यदि करें, तो साधारणजनों की व्यवहार-भाषा को इस समय की, 'प्राकृत' और साहित्यिक भाषा को 'सुसंस्कृत' भाषा कह सकते हैं। साहित्यिक भाषा के रूप में कुछ स्थिरता आ जाती है, क्योंकि व्याकरण बनता है और फिर लोग (साहित्यिकजन) उसका अनुगमन करते हैं, जिससे कि उनकी रचना बहुत दूर तक, बहुत लम्बे अर्से तक भी, लोग समझ सकें। परन्तु फिर भी, थोड़ा बहुत परिवर्तन साहित्यिक भाषा में भी देश-भेद से तथा काल-भेद

से होता है और इसीलिए वैदिक संस्कृत से 'ब्राह्मण'–ग्रन्थों की संस्कृत में अन्तर है; 'ब्राह्मण' ग्रन्थों की भाषा से उपनिषद्–ग्रन्थों की भाषा में अन्तर है और उपनिषद-भाषा से उसके अन्तर की संस्कृत में अन्तर है, जिसे आचार्य पाणिनि ने एकरूपता तथा स्थिरता प्रदान की।

जनभाषा का प्रवाह बराबर चलता रहा। वैदिककाल में जो प्राकृत (जनभाषा) थी, उसका कुछ आभास गाथाओं में मिलता है। 'कुछ' इसलिए कहा कि साहित्यिक जन प्राकृत (जनभाषा) में जब कुछ लिखते हैं, तब उस में भी बहुत कुछ बनाव-चुनाव आ ही जाता है।

प्रसिद्ध 'प्राकृत' भाषा—आगे चलते-चलते भाषा के रूप-रंग में परिवर्तन हुआ। यह बात हम जनभाषा की कर रहे हैं। इस जनभाषा में भी साहित्य-रचना हुई, जो आज 'प्राकृत-साहित्य' के नाम से हमारे सामने है। परन्तु यह न समझना चाहिए कि उस समय सम्पूर्ण आर्य जाति यही 'प्राकृत' भाषा बोलती थी ! आर्यों का बहुत दूर-दूर तक विस्तार हो गया था और उनकी भाषा भी देश-भेद से विभिन्न रूपों में आ चुकी थी। परन्तु साहित्य-रचना विद्वान् लोग संस्कृत में ही करते थे, जो साहित्य-परम्परा से प्राप्त थी। जो संस्कृत से अनभिज्ञ थे, वे अपनी जन भाषा में रचना करते थे। जैन और बौद्धमत के महान् प्रवर्तकों ने अपनी भाषा (जनभाषा) में ही उपदेश दिए। इन उपदेशों को फिर लिखित रूप दिया गया और भाषा में भी परिवर्तन हुआ। भाषा-परिवर्तन का कारण यह भी है कि जैन तथा बौद्ध जन अपने मत के उद्भव-क्षेत्र (विहार) से बहुत दूर जा पड़े। बिहार में जैन और बौद्ध तीर्थ तो हैं; पर वहाँ की जनता न जैन है और न बौद्ध है! जैन अधिक हैं राजस्थान में, गुजरात में और कुछ दक्षिण भारत में भी। जैन-ग्रन्थ जिस प्राकृत में उपलब्ध हैं, उनका मूलरूप पुरानी राजस्थानी-गुजराती 'प्राकृत' हो सकती है; बिहारी-'प्राकृत' नहीं। उस समय सर्वत्र एक ही प्राकृत (जनभाषा) नहीं थी। देश-भेद से प्राकृत-भेद था। परन्तु उन सब प्राकृतों का रूप हमारे सामने नहीं है, क्योंकि उनमें साहित्य नहीं बना; या फिर वह नष्ट हो गया! जिस प्राकृत में साहित्य-रचना हुई, वह हमें प्राप्त है। परन्तु इस साहित्यिक प्राकृत में और उस समय की जन-'प्राकृत' में अवश्य अन्तर होना चाहिए। जन भाषा साहित्यिक भाषा बनते ही बनाव-सिंगार में पड़ जाती है। कभी-कभी बनाव-सिंगार ऐसा भी होता है कि वह असली चीज को और कुरूप बना देता है! आपने किसी भारतीय लड़की को टाँगों तक की नई घँघरिया पहने देखा है ? कैसी लगती है! परन्तु उसने अपनी समझ से तो अपनी शोभा बढ़ाई है! कभी-कभी रदच्छद-राग (लिपिस्टिक) इस तरह पोत कर कोई-कोई महिला ऐसी दिखाई देती है; मानों किसी जन्तु को खा कर आई है और खून से ओंठ लाल हो रहे हैं! यह कोई शोभा है! औचित्य का ध्यान न रखने से प्रसाधन-सामाग्री से भी कुरूपता आ जाती है। यही गति भाषा की भी साहित्यिक जन कभी-कभी कर देते हैं।

'प्राकृत' की विकृति—साहित्य-प्राप्त 'प्राकृत' में बड़ी विकृति साहित्यिकों की कलम-करामात है! व्यंजन वर्णों के अन्धाधुन्ध लोप और णकार की भरमार से उस समय की मीठी जन-भाषा को कर्णकटु और दुरुच्चार बना दिया गया है! फिर भी 'प्राकृत भाषा में जो माधुर्य है,

उसका क्या कहना, इस तरह के वाक्य अपनी कर्णकटु 'प्राकृत' के लिए उद्धत किए गए ! 'प्राकृत' नाम का सहारा !

यह विकृत 'प्राकृत' निश्चय ही विहार की तत्कालीन भाषा नहीं हो सकती; यानी बिहार की प्राकृत का यह साहित्यिक रूप नहीं है; क्योंकि विहार की अद्यतन (मैथिली, भोजपुरी और मगही) भाषाओं से इस (रूढ़ 'प्राकृत') का कोई मेल नहीं; शरीर-गठन में कोई सादृश्य नहीं है। नाक, आँख या मस्तक आदि भी बनावट से नृतत्त्वविद् यह बतलाते हैं कि अमुक जनता अमुक प्राचीन वंश की है। साहित्य में जो णकारबहुल प्राकृत हमें प्राप्त है, उसका मेल विहार की भाषाओं से जरा भी नहीं; पर राजस्थानी तथा गुजराती से पूरा बैठता है। राजस्थान और गुजरात में ही जैन मत की जनता अधिक है और वहीं प्राकृत-ग्रन्थों के भंडार सुरक्षित भी हैं। राजस्थानी भाषा में 'ण' की प्रवृत्ति आज भी है। 'बहन' को 'बहण' और 'जान दे' को 'जाण दे' वहाँ बोलते हैं; परन्तु किसी शब्द के आदि में 'ण' नहीं बोलते। 'नन्द' को वहाँ इसी रूप में बोलते हैं; 'णंद' नहीं। 'प्राकृत' में 'णंद' चलता है। यही स्थिति व्यंजन वर्णों के लोप की है। राजस्थानी में व्यंजन वर्णों का उच्चारण ठीक उसी प्रकार होता है, जैसे कि अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं में। यह नहीं कहा जा सकता कि पहले 'नाम' बोलते थे; फिर 'णाम' बोलने लगे और अब फिर 'नाम' बोलने लगे हैं। तमाशा नहीं है ! गंगा जी ऋषिकेश-हरिद्वार में पहाड़ से नीचे उतर आई और कानपुर-प्रयाग में फिर पहाड़ पर चढ़ कर काशी में फिर नीचे उतर आई; ऐसा कौन अविक्षिप्त कहेगा ?

राजस्थानी और 'प्राकृत'—राजस्थानी, गुजराती और कच्छी तथा सिन्धी भाषाएँ एक ही धारा की हैं, जिसे मैंने अपने 'भारतीय भाषाविज्ञान' में 'पश्चिमी धारा' कहा है। 'पूर्व'-'पश्चिम' आदि सापेक्ष शब्द हैं। किससे पश्चिम ! देहली से। देहली (दिल्ली) हमारी भाषाओं की 'देहली' है। उधर पाँव रखो, तो राजस्थानी और इधर रखो, तो कौरवी (खड़ीबोली, मेरठी)। कुरुक्षेत्र की ओर पैर रखो, तो 'हरियानवी' या 'बाँगरू' और पूर्व की ओर पैर रखो, तो 'पाञ्चाली' (कन्नौजी)। ब्रजभाषा में खड़ीबोली, राजस्थानी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण है। सो, राजस्थानी भाषा हमारी पश्चिमी श्रृंखला की पहली कड़ी है और गुजराती दूसरी, सिन्धी तीसरी। कच्छी गुजराती का ही रूपान्तर है।

हिन्दी और 'प्राकृत'—हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी का इस रूढ़ 'प्राकृत' से कोई मेल नहीं। इसकी धारा हरियाना होती हुई पंजाब (रावलपिण्डी) तक चली गई है, और एक ओर मुड़कर सिन्धी से जा मिली है। मुलतान में सिन्धी और पंजाबी का सम्मिश्रण है। यह धारा 'आ' पुंप्रत्यय की विशेषता रखती है; यानी खड़ीबोली, बांगरू तथा पंजाबी भाषाएँ एक धारा की हैं। पाञ्चाली (कन्नौजी), अवधी, भोजपुरी, मैथिली और मगही भाषाएँ तीसरी धारा की हैं, जहाँ न 'ओ' प्रत्यय प्रधान है, न 'आ' प्रत्यय ही। इसी तरह विभिन्न धाराएँ हैं, जिनका उल्लेख इस निबन्ध को 'प्रबन्ध' बना देगा। 'भारतीय भाषाविज्ञान' में सब धाराओं की स्पष्टता देख सकते हैं। अब आप यह देखें कि उपलब्ध 'प्राकृत' की लाइन पर राजस्थानी है; या हिन्दी (खड़ीबोली) आदि भी।

डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मत है कि 'शोरसेन' प्राकृत से राजस्थानी, व्रजभाषा, बाँगरू और 'खड़ीबोली' आदि का निकास है। 'हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास' भाषा-विवेचन भी करता है। इस महाग्रन्थ का प्रथम भाग प्रकाशित हो चुका है। उसके द्वितीय अध्ययन में पृ० ३१९ पर लिखा है—

"कुछ विद्वान् खड़ीबोली हिन्दी को शौरसेनी बोली की पुत्री न मान कर एक भिन्न बोली की कल्पना करते हैं, जो भाषावैज्ञानिक दृष्टि नहीं कही जा सकती।"

"कुछ विद्वान्" का मतलब है इन पंक्तियों के लेखक से और 'भाषाविज्ञान' से मतलब है डा० चाटुर्ज्या के 'स्कूल' से। इस बात को वहीं पादटीका में यों स्पष्ट किया गया है—

[१]"श्री किशोरीदास जी बाजपेयी खड़ीबोली हिन्दी को शौरसेनी बोली से उत्पन्न न मान कर एक नई बोली की कल्पना करते हैं, पर उनके पास कोई ठोस **भाषाशास्त्रीय** प्रमाण नहीं है। डा० चाटुर्ज्या ने हरियानी बाँगरू, **देशज** हिन्दुस्तानी (खड़ीबोली) तथा **ब्रजभाषा**, कन्नौजी बुंदेली को एक ही बोली पछाहीं या पश्चिमी के अन्तर्गत समाविष्ट किया है।"

यानी 'देशज' एक ही बोली है; शेष सब 'विदेशज'। 'भाखा' मजाक में होगा। 'समाविष्ट किया है'—सब को एक ही थैले में भर दिया है! क्या कारण! कारण यह कि सर्वत्र नाम ("घर" आदि) तथा धातु ('कर' आदि) समान हैं। तब फिर बँगला, मराठी, गुजराती आदि को अलग क्यों रखा! वहाँ भी तो नाम तथा धातु प्रायः समान ही हैं। यह 'प्रायः' तो राजस्थानी और हिन्दी आदि में भी लगाना पड़ेगा! पर यह सब पूछना ठीक नहीं। भाषाविज्ञानी जो कह दे, उसे ही ठीक समझो। उसके पास भाषाविज्ञानीय प्रमाण हैं। प्रमाण वही, जो कुछ वह कहे!

अब आप उपलब्ध 'प्राकृत' से राजस्थानी आदि भाषाओं का मिलान कीजिए, जिससे स्पष्ट होगा कि वह मागधी प्राकृत है, या इधर पश्चिमी धारा की कोई प्राकृत और यह भी स्पष्ट होगा कि राजस्थानी तथा हिन्दी (खड़ीबोली) एक ही प्राकृत से हैं; या भिन्न-भिन्न प्राकृतों से—

पुत्तो गदो—प्राकृत
लड़को गयो—राजस्थानी
लड़का गया —हिन्दी

'प्राकृत' और राजस्थानी में 'ओ' है; जब कि हिन्दी में 'आ' है। बहुवचन–

पुत्ता गदा—प्राकृत
लड़का गया—राजस्थानी
लड़के गये—हिन्दी

प्राकृत तथा राजस्थानी में बहुवचन आकारान्त है; जब कि हिन्दी में एकारान्त। हिन्दी में आकारान्त एकवचन है, इसलिए बहुवचन एकारान्त—

निश्चय ही राजस्थानी तथा हिन्दी (खड़ीबोली) दो भिन्न धाराओं में हैं और इनके उद्गम भी भिन्न होने चाहिएं। किसी समय आर्यों की एक ही भाषा थी, जो देश-भेद से भिन्न होती

गई। धातु वे ही रहे; परन्तु उनके पद-प्रयोगों में अन्तर पड़ता गया। 'गम्' मूल है, उसका 'गतः' रूप एक भाषा में, 'गदो' दूसरी भाषा में, 'गयो' तीसरी में, 'गया' चौथी में। 'गदो' प्राकृत का रूप 'गयो' और 'गदा' का 'गया' (बहुवचन) रूप है। हिन्दी में एकदम भिन्न–'गया' एकवचन और 'गये' बहुवचन है! तब इन दोनों भाषाओं को (राजस्थानी को और हिन्दी 'खड़ीबोली' को) एक ही किसी प्राकृत का विकास मानना कैसा है! यदि 'एक प्राकृत' से मतलब उस प्राकृत से हो जो वैदिक काल में जनभाषा थी, तब तो शायद ठीक हो! 'शायद' इसलिए कि उस समय भी आर्यों के जनपद बहुत दूर-दूर हो गए थे और स्वभावतः जनभाषा (प्राकृत भाषा) में भेद हो गए होंगे। आगे चल कर तो बहुत अधिक अन्तर पड़ गया। यह अन्तर प्रकृति-प्रत्यय आदि में स्पष्ट है; यद्यपि धात्वंश में एकता दिखाई देती है। प्रकृति-प्रत्यय आदि की भिन्नता ही भाषा-भेद की नियामक मुख्य रूप से कही जा सकती है। अन्यथा 'गम्' का 'ग' रूप सर्वत्र समान है।

विभक्तियाँ भी प्रत्यय ही हैं और विभक्ति-भेद भी स्पष्ट है।

'ने' तथा 'को' देखिए—हिन्दी में जहां 'को' विभक्ति लगती है, वहां राजस्थानी में 'नै' या 'ने' विभक्ति लगती है। कर्ताकारक में—

राम को रोटी खानी है—हिन्दी

राम ने रोटी खाणी छै—राजस्थानी

कर्मकारक में—

राम लड़के को देखता है—हिन्दी

राम छोरा ने (नै) देखै छै—राजस्थानी

सम्प्रदान—

राम को लड्डू दिया—हिन्दी

राम नै लाडू दियो—राजस्थानी

हिन्दी की 'ने' विभक्ति केवल कर्त्ताकारक में लगती है, अन्यत्र कहीं नहीं और राजस्थानी में यह है ही नहीं।

परन्तु मजा देखिए कि 'ने' देख कर भाषाविज्ञानियों ने लिख दिया है कि हिन्दी की 'ने' विभक्ति राजस्थान तक चली गई है! यानी सेंधा नमक और मिसरी एक ही चीज है; भले ही काम और स्वाद में अन्तर हो; ऊपर का रंग-रूप तो एक है न! यह है भाषाविज्ञान और ये भाषाविज्ञानीय ठोस प्रमाण तथा तर्क 'भारतीय भाषाविज्ञान' में नहीं हैं। इसीलिए डा० चाटुर्ज्या ने भी इस ग्रन्थ को 'अवैज्ञानिक' बतलाया है और कहा है—"मैं कभी भी छात्रों को सलाह न दूंगा कि वे यह ग्रन्थ ('भारतीय भाषाविज्ञान') पढ़ें, क्योंकि इससे उनके दिमाग खराब हो जाएँगे।"

क्रियाओं के वर्तमान काल के रूप भी देखिए—

काईं करै छै—राजस्थानी

क्या करता है—हिन्दी

"करै छै" में दोनों अंश तिङन्त-पद्धति के हैं जब कि 'करता है' में पूर्व अंश कृदन्त और उत्तरांश तिङन्त —

छोरो काईं करै छै— } राजस्थानी
छोरी काईं करै छै— }

लड़का क्या करता है— } हिन्दी
लड़की क्या करती है— }

फिर भी दोनों एक ही बोली के रूप हैं ! तब फिर भारत भर की वर्तमान आर्यभाषाएँ इसी एक बोली के रूप क्यों नहीं ? सब शौरसेनी बोली से उद्भूत क्यों नहीं ?

"'शौरसेनी' बोली और ब्रजभाषा—कहते हैं वर्तमान ब्रज ही कभी शौरसेन प्रदेश कहलाता था और वहाँ की भाषा को पहले 'शौरसेन प्राकृत' फिर 'शौरसेन अपभ्रंश' कहा गया और उसी के विकसित रूप ब्रजभाषा, राजस्थानी तथा हिन्दी (खड़ीबोली) आदि हैं। राजस्थानी तथा खड़ीबोली में कितना साम्य है; ऊपर देखा। अब शौरसेन प्रदेश की वर्तमान भाषा (ब्रजभाषा) भी देखिए।

नीचे के उदाहरणों से ज्ञात होगा कि राजस्थानी तथा 'खड़ीबोली' का सम्मिश्रण है ब्रजभाषा। वे दोनों धाराएँ तो स्वतंत्र और पृथक-पृथक सत्ता बहुत साफ रखती ही हैं। तीनों के प्रयोग देखिए—

राम का लड़का गया—हिन्दी
राम को छोरो गयो—राजस्थानी
राम को छोरा गयो—ब्रजभाषा

यानी 'राम को' तथा 'गयो' हैं राजस्थानी के अनुसार ब्रजभाषा में; पर 'छोरा' है खड़ी-बोली ('लड़का') की तरह। ब्रजभाषा में 'छोरो गयो' न होगा। यह राजस्थानी प्रयोग है। क्रिया का एक वचन राजस्थानी के अनुसार ब्रजभाषा में हैं; पर बहुवचन खड़ीबोली के अनुसार—

राम के लड़के गये (गए)—हिन्दी
राम का लड़का गया—राजस्थानी
राम के छोरा गए—ब्रजभाषा

यानी ब्रजभाषा में (बहुवचन में) कर्त्ता है राजस्थानी के अनुसार—'छोरा' और क्रिया है हिन्दी के अनुसार 'गए'। राजस्थानी में 'छोरा गया' और हिन्दी में 'लड़के गए' परन्तु ब्रजभाषा में मिश्रण—'छोरा गए।" कारण यह कि दोनों धाराओं के बीच में ब्रज है। एक ओर खड़ीबोली का क्षेत्र दिल्ली-मेरठ और दूसरी ओर राजस्थानी का क्षेत्र जयपुर-अलवर। दोनों धाराओं से ब्रज प्रभावित है। यानी ब्रजभाषा दो भिन्न धाराओं से बनी है। यहां की भाषा से वे दोनों

नहीं हैं। अनारदाना और नमक-मिर्च से चटनी बनी है; चटनी से अनारदाना और नमक मिर्च नहीं।

पाञ्चाली कन्नौजी को भी व्रजभाषा के अन्तर्गत ले लिया है; यह देखिए रूप—

राम कहा **करैं गो**
सीता कहा **करैं गी** } व्रजभाषा

राम का **करिहै**
सीता का **करिहैं** } पञ्चाली (कन्नौजी)

फिर भी एक ! तब बँगला पृथक् क्यों ? 'कर' तो वहां भी है ?

डाक्टर त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सन्त कवि और पुनर्जन्म-भावना

आत्मा द्वारा एक शरीर का परित्याग करके अपर शरीर धारण कर लेना 'पुनर्जन्म' है। दूसरे शब्दों में आवागमन के क्रम में जीव द्वारा अभिनव शरीर का शरीर रूपी नव परिधान धारण कर लेना ही 'पुनर्जन्म' है। जीव का बारम्बार विभिन्न योनियों से होते हुए मृत्यु एवं जन्म के क्रम में पड़ना ही 'पुनर्जन्म' है। इस शब्द की मूल विचारधारा है "पुनरपि जन्मम् पुनरपि मरणम्, पुनरपि जननी जठरे शयनम्"। सृष्टि के प्रपंच, माया के रूपावरण इसी पुनर्जन्म पर ही निर्भर है।

'कर्म' पुनर्जन्म की आत्मा है। विधाता ने 'कर्म प्रधान विश्व करि राखा' है। यह कर्म बड़ा विचित्र है। यथा विष प्राण लेने और प्राण देने (नवजीवन) का एक साधन बन जाता है, उसी प्रकार 'कर्म' भव-बन्धन और पुनर्जन्म के क्रम में मानव को प्रवृत्त एवं निवृत्त करने में पूर्णरूपेण समर्थ है। कर्म के दोनों रूप एक दूसरे से कितने भिन्न और पृथक् हैं। एक कितना सम्मोहक और दूसरा कितना भयानक ! कर्म एक ओर मुक्ति दिलाने वाला है तो दूसरी ओर वही बन्धनों में निबद्ध करने के लिए सुदृढ़ रज्जु का कार्य करता है।

आत्मा या जीव अविनाशी, चेतन, निर्लिप्त और निर्विकार माना गया है। फिर भी संसर्ग के प्रभाव से संकल्प, विकल्प, सुख, दुःख, द्वेष, प्रेम आदि कर्मों में प्रवृत्ति होती ही है। यही विभिन्न कर्म उसके पुनर्जन्म के आधारभूत कारण हैं। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार "प्राणियों की सत्ता को समुत्पन्न करने वाली विशेष रचना ही कर्म है।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः—गीता, अ० ८

कर्म का आधार और उत्पादक त्रिगुणात्मक प्रकृति है। इसी त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति में संलग्न मानव-आत्मा कर्म करती है, और यही कर्म बन्धन के आधार बन जाते हैं। कृति में स्थिति ही पुरुष प्रकृति से समुत्पन्न त्रिगुणात्मक पदार्थों को भोगता और इन गुणों का संसर्ग ही इस जीवात्मा की अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने का कारण है।[1] त्रयोगुणों का संग उच्च एवं निम्न योनियों में जन्म का एक कारण होता है। प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण सत्वगुण, रजोगुण एवं तमोगुण, अविनाशी जीवात्मा को शरीर के बन्धन में बाँधते

----

१. **पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।**
कारणं गुणसंगोस्य सद्सद्योनिजन्मसु।—गीता, १३।२१

हैं।[१] इन तीनों गुणों में सत्वगुण निर्मल होने के कारण प्रकाश करने वाला और विकार रहित है[२] और समस्त देहाभिमानियों को मोहित करने वाला तमोगुण को तो अज्ञान से उत्पन्न मानना चाहिए। वह इस जीवात्मा को प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बांधता है।[३] राग रूप रजोगुण को कामना और आसक्ति के रूप में ग्रहण करना चाहिए। वह इस जीवात्मा को कर्मों के और उसके फल के सम्बन्ध से बांधता है।[४] गीता का यही भाव मनुस्मृति में भी प्रतिपादित हुआ है।

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥[५]

यह पुरुष शरीर की उत्पत्ति के कारण रूप इन तीनों गुणों को उल्लंघन करके मृत्यु, वृद्धावस्था और सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुआ परमानन्द को प्राप्त होता है।[६]

जीव के कर्मों के अनेक भेद हैं जिनमें विशेष उल्लेखनीय हैं 'संचित', 'प्रारब्ध' और 'क्रियमाण'। संचित कर्म पूर्व जन्मों में कृत माने गये हैं। फलतः उनके संस्कार बीज रूप में जीव के साथ विद्यमान रहते हैं। "प्रारब्ध कर्म" वे हैं जिन्हें मानस इस जन्म में अपने साथ उपभोगनार्थ लाता है। 'प्रारब्ध' में से जिन कर्मों का उपभोग मानव इसी जन्म में करते लगता है, वे हैं क्रियमाण। अतः धर्मशास्त्र का यह दृढ़ विश्वास है कि जीव के साथ कर्मों का क्रम लगा रहता है। ज्ञान ही इन कर्मों का विनाशक है यथा सूर्य तम का विनाशक है।

जीव का कर्मानुसार स्थूल शरीर से संयोग ही मानव का जन्म और वियोग मृत्यु मानी गई है। जन्म ग्रहण करने के लिए वह जीव वायु, अन्न, जल के द्वारा दूसरे शरीर में प्रविष्ट होता और फिर वह वीर्य में जाकर गर्भ में स्थित होकर, शरीर धारण कर लेता है। पुनर्जन्म के अनन्तर जीवात्मा चार शरीरों में प्रकट होता है। ये चार शरीर हैं--स्थूल शरीर जो नेत्रों द्वारा दृष्टिगत होता है। सूक्ष्म शरीर (पंच प्राण, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंच सूक्ष्मभूत मन तथा बुद्धि द्वारा निर्मित) कारण शरीर (इसमें सुषुप्ति होती है), तथा इसी शरीर के द्वारा जीव समाधि से ब्रह्म में लीन होता है।

कर्मानुसार विभन्न योनियों से होता हुआ मानव पुनर्जन्म प्राप्त करता है। इन योनियों

----

१. **सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।**
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥--गीता १४।५

२. **तत्र सत्वं निर्मलत्वा प्रकाशकमनात्यम्।**
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ॥--गीता १४।६

३. **गीता १४-८**

४. **गीता १४-७**

५. **मनुस्मृति अ० १२-४०**

६. **गीता १४-२०**

की संख्या चौरासी लाख है। इनमें सबसे श्रेष्ठ मानव-योनि है; अन्य योनियों को चार भागों में विभाजित किया गया है।[1] विष्णु पुराण में कहा गया है कि स्थावर योनियां बीस लाख हैं, जलचर नव लाख, कूर्म नव लाख, पक्षी दस लाख, पशु तीस लाख और वानर चार लाख हैं। इनके पश्चात् मानव योनि है।[2] गीता के अनुसार अनेक जन्मों के बाद मानव शरीर को प्राप्त करता है।[3] मानव स्वतः अपना उद्धारक है।[4] छान्दोग्योपनिषद् में भी कर्म विभाग के आधार पर पुनर्जन्म की व्यवस्था की गई है।[5]

प्रत्येक धर्म और सम्प्रदायों का पुनर्जन्म पर विश्वास रहा है। यहां इस विषय में किंचित विचार असंगत न होगा। जैन धर्म में पुनर्जन्म को मान्यता दी गई है। जैन आचार्यों का मत है कि सद्कृत्यों के आधार पर ही मानव का जन्म उच्च कुल और समृद्ध परिवार में होता है। इसके विपरीत निम्न कृत्यों से मानव जीवनपर्यन्त कष्टों को भोग। करता है। असंख्य अनुभवों और जन्मों के पश्चात् मानव जीव-कर्म से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है और वह सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र के आधार पर वीतराग होकर समस्त संकल्प-विकल्प से मुक्ति पाकर मोक्ष प्राप्त करता है।

बौद्ध दर्शन में आत्मा अनित्य संघात मात्र है। इस परिस्थिति में सद् असद् कृत्यों का उत्तरदायित्व कौन उपभोग करेगा ? जब आत्मा की स्थिति है ही नहीं तब पुनर्जन्म किसका होगा! कर्म-कर्त्ता अतीत में विलीन हो जाता है और जन्मता है। उसने कर्म किया नहीं है फिर फल का उपभोग कौन करेगा और क्यों करेगा ? स्थिर कर्त्ता के अभाव में यदि कोई भी क्रिया हो सकती है तो स्थिरतत्व की कल्पना बिना पुनर्जन्म भी हो सकती है। बौद्ध धर्म में आत्मा को दीपशिखा से उपमा दी गई है। दीपशिखा जब तक प्रज्ज्वलित है, तब तक उसकी लौ एक ही प्रतीत होती है। पर तथ्य यह है कि वह नवीन ईंधन या तेल के संयोग से निरन्तर बदलती रही है। दीपशिखा एक ईंधन संघात से द्वितीय ईंधन संघात से संक्रान्त होती रहती है। और इस प्रकार उसका अस्तित्व हमारे

---

१. उद्भिज्जाः स्वेदजाश्चैव अंडजाश्च जरायुजाः।
इत्येवं वर्णिताः शास्त्रे भूतग्रामाश्चतुर्विधाः॥--धर्मों की एकता, पृ० ५१

२. स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलचरः नवलक्षकम्।
कूर्माश्च नवलक्षंस्युर्दशलक्षं च पक्षिणः।
त्रिंशल्लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं तु वानराः।
ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्।--बृहद् विष्णुपुराण

३. अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।
बहूना जन्म नामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते॥--गीता॥

४. उद्धारेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनां बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥--गीता॥

५. छान्दोग्योपनिषद् ५-१०-७

नेत्रों के सम्मुख विद्यमान रहता है। ठीक इसी प्रकार जीवन के मृत्यु-क्षण एवं दूसरे जीवन के जन्म-क्षण में दो क्षण समय के अतिरिक्त और अधिक अन्तर कहां से हो सकता है ? प्रति क्षण में कर्म विनष्ट होते जाते हैं परन्तु उनकी वासना अगले क्षण में अनुस्यूत रूप से प्रवाहित होती है। इसीलिए अनित्यता को मानते हुए भी बौद्धों ने पुनर्जन्म को तर्कयुक्त माना है[१] ।

इस्लाम धर्म में पुनर्जन्म को मान्यता नहीं दी गई है। कुरान का मत है कि मानव का यह जन्म सर्वप्रथम और अंतिम है। परन्तु कुरान की कुछ आयतों में पुनर्जन्म की भावना की प्रतिच्छाया उपलब्ध होती है। कुरान की एक आयत (५।९।४) में कहा गया है कि खुदा जिस पर क्रुद्ध हुआ उनमें से कुछ को बन्दर और सुअर बना दिया। इस प्रकार पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता से सम्बन्धित विचारधारा का भी प्रतिपादन हुआ है[२]। सुप्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक रूमी की निम्न लिखित मसनवी में कहा गया है कि "मैंने अनेक जन्म ग्रहण किए हैं और सात सौ सत्तर शरीरों में प्रकट हुआ हूँ।"

"हम चु सब्जा वारहा सेईद अभ्।
हफ्त सद् हफ्ताद् कालिव् दीद अभ्॥"

हिन्दी साहित्य में पुनर्जन्म की भावना पर विचार प्रकट करने वाला सर्वप्रथम कवि स्वयंभू है। स्वयंभू आठवीं शताब्दी का श्रेष्ठ कवि है जिसकी दृष्टि का सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं पर समान रूप से प्रवेश हुआ है। स्वयंभू की दृष्टि में यह काया नरक है। काया के प्राण-पखेरू के उड़ जाने पर यह कृमि-कीट का खाद्य बन जाता है। इसकी निस्सारता का कहाँ तक कोई कवि वर्णन करे[३]। इस शरीर का आदि अंत सभी दुःखपूर्ण है। यह जब तक संसार में रहता है तब तक दुःखों और विपत्तियों से परिवेष्ठित रहता है। इस संसार में आने के पूर्व भी उसे नौ मास तक गर्भवास दुःख का भोग करना ही पड़ता है। कवि के शब्दों में ही उस गर्भवास की यातना का वर्णन पढ़िए।

तहिं तेहइं रस वस भूय भरे । णव मास वसेव्वउ देह धरे।
णव णाहिकमलु उत्थल्लु जहिं । पहिलउ जे पिंडु संबंधु तहिं।
दस दिवसु परिटिठउ रुहिर जलु । कणु जेभ पईउउ धरिणियलु।

---

१. बौद्ध दर्शनः आचार्य बलदेव उपाध्याय पृ० १०५।
२. कुरान (२-२८, २-२-३, २-२५९, २२-६ आदि)।
३. माणुसु देह होइ घिणि विट्ठलु । सिरेहि णिवद्धउ हड्ठह पोट्टलु।
चलु कुंजंतु माय मउ कुहेंडउ । मलहो पुंज्नु किमि कीडहु सूडउ।
पूइगंध रुहिराभिस भंडउ । चम्म रुक्खु दुग्गंध करंडउ।
अंतहों पोट्टलु पक्खिहिं भोयणु । बाहिहि भवणु मसाणहो भायणु।
—हिन्दी काव्य-धारा, पृ० २२१

विहि दस रत्तिहि समुटिठअउ । णं जले डिडीर समुट्ठिअउ।
तिहि दस रत्तिहिं बुव्वुड घडिउ । णं सिसिर विंदु कंकुम पडिउ।
दस रत्ति तउत्थहें वित्थरिउ । रणवइ पवलंकुरु णीसरउ।।

× × ×

जेण दुवारे आइयउ, जौ तं परिहरे ण सक्कइ।
पंतिहि जुत्तु वइल्लु जिह, भव संसारे भमंतु ण थक्कइ[1]।

संसार में गर्भवास के द्वारा बारम्बार इस आवागमन का कष्ट असहनीय है। यह संसार तुच्छ है, नरक-तुल्य दुखों का और माया का सागर अस्थिर है। कवि के शब्दों में यह संसार--

को काल भुयंगहो उव्वरइ । जौ जुग जै सव्वु उवसंहरइ।
तहाँ जठि जहि कहिभि दिट्ठि रमइ । तहि ताहि णं भइय वट्टु भलइ।
केवि गिलई गिलइ केवि उग्गिलइ । काहिनि जम्मावसाणि मिलइ[2]।

फिर इसके लिए मनुष्य को आवागमन का दुख सहन करने की क्या आवश्यकता है ? इस जन्म और पुनर्जन्म के संकटमय क्रम से जितनी ही जल्दी अवकाश मिल जाय उतना ही कल्याणकारी है। आवागमन का दुख बड़ा व्यापक और कष्टकारी है।[3]

दसवीं शताब्दी के कवि तिलोपा ने भी आवागमन दुख से निवृत्ति पाने के लिए निर्वाण साधना का उपदेश दिया है।[4] इसी प्रकार कविवर पुष्पदंत के कायानरक प्रकरण,[5] संसार तुच्छ प्रसंग,[6] कवि कनकाभरमुनि (१०६० ई०) के संसार तुच्छ वर्णन[7], सोमपुत्र के जंगतुच्छ वर्णन में आवागमन तथा पुनर्जन्म के विषय में उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण के दर्शन होते हैं। इन कवियों ने बार-बार इस बात पर जोर दिया कि जीवन निस्सार है। इसके बंधन से अवकाश पाने के लिए हर प्रकार का प्रयत्न मानव को करना आवश्यकीय है।

----

१. हिन्दी काव्य-धारा, पृ० १२४
२. हिन्दी काव्य-धारा, पृ० १२६
३. इउ जणेवि धीरहि अप्पणउं । करे कंकणु जोवहि दप्पणउ।
चउगइ संसार भमंतएंण । आवंता जंत मरंतएंण।।
जगे जीवे कोण रुवाविअउ । को गरुय धाहण मुआवियउ।
को कहिभि णाहि संताविअउ । को कहिनि ण आवइ पावियउ।
--हिन्दी काव्य-धारा, पृ० १२५
४. हिन्दी काव्य-धारा, पृ० १७२
५. ,, ,, २३४
६. ,, ,, २३६
७. ,, ,, ३४४

'नाथ' सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी आवागमन, पुनर्जन्म आदि की कटु निन्दा की गई है। पुनर्जन्म के द्वारा ही मानव भव-बन्धनों में फँसता है और भारी दुखों का सामना करता है। मानव का जीवन भृङ्ग मरीचिकाओं में फंसे हुए मृग की तरह बहुत दुखों को झेलता है। यदि यह पुनर्जन्म का क्रम विच्छिन्न हो जाय तो फिर परम पद या परम गति को मानव प्राप्त कर लेता है। बाबा गोरखनाथ के कथनानुसार, आवागमन भ्रम का मार्ग है। असली पंथ तो उन पुरुषों (सिद्धों) का बताया हुआ पंथ है जिन्होंने पहुंच के बाहर वाले (अतीत) अनहद नाद को जागरित किया है और स्वयं अन्तर्लीन हो गए हैं—

आवागवण भरम का मारग, पुरषा पंथ बताया।
सबद अतीत अनाहद बोले, अंतरि गीत समाया।[२]

इन पंक्तियों में, अत्यन्त सारांश रूप में, हम नाथ संप्रदाय की पुनर्जन्म विषयक विचार धारा के दर्शन कर सकते हैं।

अब हिन्दी के संत कवियों की ओर ध्यान दीजिए। संतों का आविर्भाव नाथ सम्प्रदाय या सिद्धों की परम्परा में माना जाता है।[१] सिद्धों की विचार धारा का हिन्दी के संतों पर स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। सिद्धों और नाथों की भाँति संत कवियों ने बड़े स्पष्ट स्वर में घोषित किया है कि यह संसार रहने योग्य नहीं है। यहां त्रिविध तापों से मानव सर्वदा दग्ध रहता है। संसार बालू की भित्ति के सदृश्य अस्थायी है। मानव की श्वास प्रश्वास जिस क्षण बंद हो जायगी उसी क्षण अपने पराये बन जाते हैं। संसार की माया मानव को भ्रमीभूत किये रहती है। कबीर के शब्दों में —

टुक जिन्दगी बंदगीकर लेना, क्या माया भर मस्ताना।
रथ घोड़े सुख पालकी, हाथी और वाहन नाना।।
तेरा ठाट काठ की टाटी, यह चढ़ चलना समसाना।।
रूप पाट पाटम्बर अम्बर, जरी वक्त का बाना।
तेरे काज गजी गज चारिक, भरा रहै तो साखाना।।
खर्चे की तदबीर करो तुम, मंजिल लम्बी जाना।
पहिचन्ते का गांव न मग में, चौकी न हाट दुकाना।।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नहि कलि तरन जतन आना।

(संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ७)

इन पंक्तियों में संसार की क्षणभंगुरता की अभिव्यक्ति ही नहीं हुई वरन् कवि इस आवागमन से मुक्ति पाने के लिए आग्रह भी करता है 'जीते जी वे जीति जनम को' तथा 'नहि कलि तरन जतन आना' में भव बंधन से मुक्ति पाने के लिए बारबार उपदेश दिया गया है। संत मलूकदास के अनुसार यह संसार मुर्दों का प्रदेश है। कवि के शब्दों में —

१. हिन्दी काव्य धारा पृ० ४१६
२. गोरखबानी, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, ३६।२१६

मुवा सकल जग देखिया, मैं तो जियत न देखा कोय हो।।
मुवा मुई को ब्याहता रे, मुवा ब्याह करि देय।
मुए बर ते जात है, एक मुआ बधाई लेय हो।।
मुआ मुए से लड़न को, मुवा जोर लै जाय।
मुरदे मुरदे लड़ि मरे, एक मुरदा मन पछिताय हो।
अंत एक दिन मरौगे रे, गलि गुड़ि जैहै चाम।
ऐसी झूठी देह ते काहे, लेत न सांचा नाम हो।
मरने मरना भांनि है रे, जो मरि जानै कोय।
राम दुवारे जो मरै, फिर बहुरि न मरना होय रे।।

(मलूकदास की बानी, पृ० १४)

प्रस्तुत उद्धरण की अंतिम दो पंक्तियां विशेष रूप से पठनीय हैं। संसार मरता चला जा रहा है परन्तु मरना कोई नहीं जानता। मरना उसी का सफल है जो "राम दुवारे" पर मर कर अमरत्व को और पुनर्जन्म के बंधन से अवकाश प्राप्त कर ले। संत नामदेव भी पुनर्जन्म से मुक्ति-प्राप्त करने के पक्षपाती हैं—

अस मन लाव राम रसना।
तेरो बहुरि न होइ जरा मरना।।

(संतबानी संग्रह, भाग २-२९)

इसी प्रकार रैदास,[१] धनी धर्मदास,[२] नानक,[३] हरिवा साहब (मारवाड़ वाले)[४] तथा चरन दास,[५] आदि संत कवियों ने संसार की असारता के प्रति मानव को चेतावनी देते हुए यहां से मुक्ति-प्राप्त कर लेने का उपदेश दिया है। यह मानव-जन्म बड़ा दुर्लभ है। यदि सुकृत्यों के अर्जन से एक बार अवसर मिल गया है तो मानव जाग्रत होकर आवागमन से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। कबीर के शब्दों में—

मानुष जन्म दुर्लभ अहै, होय न बारम्बार।
तरवर से पत्ता झरै, बहुरि न लागै डार।।[६]

यदि इस जन्म में सुकृत का व्यापार और आत्मा को पहचानने का काम मानव ने न किया,

---

१. संतवाणी संग्रह, भाग २, पृ० ३२
२. „ „ „ ३०।२
३. „ „ „ ४०।१,२
४. „ „ „ १५३।१
५. „ „ „ १८१।१
६. „ „ १ पृ० १३।४८

तो फिर उसे पशु की योनि में जन्म लेना पड़ेगा।[१] कबीर ने आवागमन और पुनर्जन्म के बंधन की बड़ी कटु आलोचना की है। कवि के शब्दों में—

जो आवै तो जाय नहि,
जाय तो आवै नाहिं।[२]

यह बार बार का जीना मरना लज्जाजनक है। फिर भी संसार उससे पृथक् मार्ग का अनुसरण नहीं करता क्योंकि माया उसके नेत्रों पर अज्ञान का पर्दा डाले हुए है।

उपजै निपजै निपजि समाई, नैननि देखि चल्यो जग जाई।
लाज न मरो कहो घर मेरा, अंत की बार नहीं कछु तेरा।
अनेक जतन करि काया पाली, मरती बेर अगिन संग जाली[३]।

चौरासी लक्ष योनियों से मानव का जन्म सर्वश्रेष्ठ है फिर भी मानव सचेत होकर भव-बंधन और मुक्ति के लिये सुकृत अर्जन नहीं करता है।[४]

आवागमन का क्रम विनष्ट करके मुक्ति प्रदान करने वाले सतगुर हैं। धनी धर्मदास के शब्दों में—

गुरु मिले अगम के बासी।
उनके चरन कमल चित दीजै, सतगुरु मिले अबिनासी।।
उनकी सीतल प्रसाद लीजै, छूटि जाय चौरासी[५]।

नामदेव के अनुसार राम-नाम इस जरा-मरण से मुक्ति दिलाने वाला है।[६]

संतों के अनुसार मानव का कर्म-विधान उसे मुक्ति प्रदान करने वाला है। सुकृतों के अर्जन से मुक्ति और दुष्कृत्यों में संलग्न रहने से आवागमन का चक्र प्राप्त होता है। कर्म की खेती में जैसा बीज डाला जायगा वैसा ही बीज उत्पन्न होगा—

बली काल तत्काल है, बुरा करौ जिनि कोइ।
अनबावैं लोहा दाहिणैं, बोबैं सु लुणंता होइ।।

(कबीर ग्रन्थावली, ३४-२)

कर्म ही मुक्ति दिलाने वाला है और कर्म ही भ्रम के चक्र में डालने वाला है।[७]

---

१. संतबानी संग्रह, भाग १ पृ० ११-३१,
२. वही, पृ० ३४-४
३. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० ८-१०
४. वही, पृ० २१-१
५. वही, पृ० ३७-२
६. संतबानी संग्रह, भाग २, पृ० २९-३
७. विशेष विवरण के लिए देखिए: 'संतों की कर्म भावना'।

श्री मदनराज दौलतराम मेहता

नरपति नाल्ह की दो दुर्लभ काव्य-कृतियाँ

नरपति नाल्ह के सर्वमान्य जीवनवृत्त के अभाव[1] में यह कहना कठिन है कि 'वीसलदेव रास या बीसलदेव रासो' के रचयिता तथा 'विक्रम पंचदण्ड' के कर्त्ता दोनों एक ही नरपति नाल्ह हैं। यद्यपि कतिपय विद्वानों ने 'बीसलदेव रासो' तथा 'विक्रम पंचदंड' की भाषा शैली तथा शब्दावली के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दोनों के रचयिता एक ही नरपति नाल्ह थे।[2]

'बीसलदेव रासो' तथा 'विक्रम पंचदंड' के अतिरिक्त नरपति कृत तीन और कृतियों का पता चलता है। श्री मोहनलाल दलीचंद देसाई ने 'विक्रम पंचदण्ड,' 'नन्द बत्तीसी,' 'स्नेह-परिक्रम', तथा 'निःस्नेह-परिक्रम' प्रभृति रचनाओं का भी उल्लेख किया है।[3] उन्होंने 'विक्रम पंचदण्ड' तथा 'नंद बत्तीसी' के रचनाकाल का भी निर्देश किया है। किन्तु नरपति नाल्ह की अन्य दो कृतियों 'स्नेह-परिक्रम' तथा 'निःस्नेह-परिक्रम' के रचनाकाल का उन्होंने उल्लेख नहीं किया। कुछ अन्य विद्वानों ने भी नरपति की भाषा शैली तथा शब्दावली की समीक्षा करते हुए केवल 'बीसलदेव रासो' तथा 'विक्रम पंचदण्ड' की ही चर्चा की है। इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि नरपति नाल्ह कृत 'स्नेह-परिक्रम' एवं 'निःस्नेह-परिक्रम' के संबंध में पूरा विवरण विद्वानों को सुलभ नहीं हो सका है।

हमारे प्राच्य संग्रह में १५७० (विक्रम)[4] के श्री जीवरत्नगणि के गुटका में नरपति का 'स्नेह-परिक्रम' एवं 'निःस्नेह-परिक्रम' समुपलब्ध है। इस गुटके के लिपि-काल से यह स्पष्ट हो जाता है कि नरपति कृत इन दोनों काव्यों का रचनाकाल १५७० विक्रम के बाद का नहीं है। गुटका की अन्य संकलित रचनाओं पर दृष्टिपात करने से एक बात सामने आती है कि श्री जीवरत्नगणि गुजरात के रहने वाले थे। उन्होंने इस गुटके में गुजरात (गुर्जरात) के हिन्दू तथा म्लेच्छ भूपालों की सूची के अतिरिक्त गुजरात के प्रमुख जैन तीर्थों के स्तवन भी लिपिबद्ध किये हैं। इससे विद्वानों का यह अनुमान है कि नरपति नाल्ह गुर्जर कवि थे, इसकी थोड़ी पुष्टि होती है।

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास--आचार्य शुक्ल, पृ० ३४-३८

२. राजस्थानी भाषा और साहित्य--डा० मेनारिया, पृ० ११७

३. जैन गुर्जर कवियों. . ., भाग ३, खण्ड २, श्री देसाई पृ० २१५१

४. श्री दौलतराम मेहता प्राच्य ग्रंथागार, जोधपुर (हस्तलिखित गुटका, पृ० २०३)

नरपति नाल्ह जैन थे। 'स्नेह-परिक्रम' काव्यकृति में 'अरिहंत' शब्द का प्रयोग मिलता है।[१] उल्लिखित दोनों कृतियों में, उन्होंने भी अन्य जैन कवियों की भांति अध्यात्म की चर्चा की है।

काव्य की दृष्टि से 'स्नेह-परिक्रम' तथा 'निःस्नेह-परिक्रम' सामान्य कृतियां हैं, किन्तु, भाषा-शैली एवं शब्दावली के विचार से इन कृतियों का अप्रतिम महत्व है। प्राचीन साहित्य-प्रेमी सज्जनों के लाभार्थ हम इन दोनों काव्यों को यहां प्रस्तुत करते हैं—

'स्नेह-परिक्रम'—

नेह पराक्रम वांचता । लीजइ गणपति नाम।
नर नारी विरहा वसइं । तेहनुए विश्राम ।।१।।

नारी वेदन विलोकतां । नरहिइं वदन विकास।
मानसरोवरि कमलणी । शशहर मिली उजास ।।२।।

शशि हर खंडुकांरहिउ । अर्द्धांगिनी पाई नारि।
नर रंजन ए गोरडी । रमा रमनि संसारि ।।३।।

नर मोहि नारी मिलइं । नारी वहर मिलंति।
जिम रयणी शशि हर मिलइं । शशि हर रयणि मिलंति ।।४।।

जोयंता हीयडूं हसइं । हुइ रुलीया इति मन्न।
कहि नरपति सुणि बापड़ा । नारी नाम रतन्न ।।५।।

मोहिया दानव देवता । नर मोहिया संसारि।
नारी महीपाल मोहिनी । कहि नरपति सविचारि ।।६।।

जिहां नारी तिहां नर वसइं । नर तिहां वसति नारि।
कवि नरपति इम उचरइं । इछा सगति संसारि ।।७।।

जु नारी नयणे मिलइं । जाणे दीठी द्राख।
चावण हारज एक रे । चावण हारा लाख ।।८।।

नारीविण दीहज कसिउ । कहु किमि रयण विहाइ।
चाख्या रस इति रूयडा । तुरीया समीयन आहि ।।९।।

नारायण नारी बडइं । कीधु देत्य सिंहार।
कहि नरपति सुणि बापड़ा । स्त्रीयां त्रिभुवनिसार ।।१०।।

नारी पारवइन विसरइं । किम बाधइ संसार।
स्त्रीयां सविहुंवल्लही । अमीय तणु भंडार ।।११।।

---

१. स्नेह-परिक्रम—पद ४०

आंबा रायण सेलड़ी । ए मीठा अपार।
स्त्रीयां सविहुं वल्लही । अमीय तणु भंडार॥१२॥

शरि (शिर) भीतरि जे सेरडी । मयण वणु ते माग।
कवि नरपति इम उच्चरइं । वेणी वासिग नाग॥१३॥

मणि साची वासग तणी । गिर राखड़ी सोहंति।
वलणि पहुउली चांपती । हंस गति हीड़ंति॥१४॥

नल वटि टीली वाटली । कानि जब्रूकइ गालि।
अधर अमूलिक नारिनां । दंत विरहावालि॥१५॥

मग मद चंद निवाहीइं । नयणा अमयंक चोल।
भूप मंडल महुवाटली । मुख हर रक्त तंबोल॥१६॥

नाशा निरमल नारिनी । मुगताफल झलकंति।
मनिवर जाणइ मुक्ताफल । चतुर पणह चाहंति॥१७॥

करि चूडा चंपावना । पाए नेउर झमकार।
डरि कससमउ कंचूउ । कंठि हीरा लग हार॥१८॥

बोलंती बहू रीझवइ । अणीए रीझव्या निरंदं।
उहिरे कंकम रेहड़ी । बीजइ वेध्या चंद॥१९॥

यौवन वन नारी तणू । सहूको सीचण हार।
स्नेह सगंध फूलडी । मह महीया अपार॥२०॥

प्रेम तणी है छांहडी । गुण गिरुभ्या फल दीठ।
नर भमर तीणि वनि वसइ । स्त्रीयां रस अनीठ॥२१॥

केहि नरपति सुणि बापड़ा । वली वनिता रस माणि।
जग ने कहि सुणि रूपतां । नारी जर छह जाणि॥२२॥

वली विधांता वीनइं । भलइं नीपाई नारि।
नर रंजन ए गोरडी । रामा रमति संसारि॥२३॥

महिला विण मंदिर कसिउं । गोठी किसी संसारि।
ते थानक सुहामणूं । जिहां रहि ऊभी नारि॥२४॥

रासावा नवि यौवनी । नरनइ भेल्हइ पाग।
सार संसारिइं सुंदरी । पुण्य तणइ अधिकारि॥२५॥

लडिगहेली लाडली । नरनइ मेल्हइ पाग।
कहि नरपति सुणि बापड़ा । हूड मयण पसाड॥२६॥

८

एक सोनूं नइ सुंदरी । पुण्य तणइ अधिकारि ।
परमेसर पूज्या बिना । किमलहीइं सविचारि ॥२७॥

एक सोनूं नइ सुंदरी । बेहू नरना पांख ।
एकइं पंखिइं पंख विण । पुण्यवंत बेहू पांख ॥२८॥

प्रीयसिउं सूती सुंदरी । आलिंगन अधिकार ।
पातिग छुटइं दिवसना । रयणी सेज मजारि ॥२९॥

नारी निर्मल वेलडी । नरतरूयर पसरंति ।
कवि नरपति इम उचरइं । संयोगिइं सोहंति ॥३०॥

संयोगिइं जग उपजइ । वियोगी जग जाइ ।
ए संयोग वियोगना । विरला भेद लहाइ ॥३१॥

एक आलिंग चूबूया । अधरि विलगादंत ।
इंगिजंग मिली रहिया । नर काम निसेवंत ॥३२॥

कामिनि सेवक रत्नडा । इम सर्व राग मंति ।
पहिलुं भोगिइं भोगवी । जे मधुरी लागंति ॥३३॥

धरती अंबर मेंहलु । ते वरसइ चुहुमासि ।
धण धरती नर मेहलु । वरसइ बारइ मासि ॥३४॥

सोल अडारइं वीसरे । स्त्रीयां त्रीसहमारि ।
तां सुंदरि सोहामणी । अलखामणि अधिकारि ॥३५॥

नर व्यालीसह वउरतां । जुवउली पंचास ।
शोभा नहीं नरपति भणइ । करियो पुण्यह आस ॥३६॥

नर नारी वृद्धा हुइं । तुहि करिवालजि ।
विरह वर्द्ध वधामणां । सीखज देवा काजि ॥३७॥

स्वामी नूह नइं वीनवूं । चउद भुवनु राउ ।
एक जीवा नइं यौवनह । अचल न कीधा कांइं ॥३८॥

कहि नरपति सुणि बापड़ा । नेह वडु संसारि ।
नेह वडीइं नाराइणि । कीधु देत्य संहार ॥३९॥

वइरागिइं रागिइंकरी । त्रिहु भुवन भूपाल ।
कवि चिहुखाणे वेगला । जेह मनि जिन अरिहंत ॥४०॥

इति स्नेह-परिक्रम संपूर्ण--

'निःस्नेह-परिक्रम'----

नारी छेहु न विपडइं । नर छेहानी कोडि।
पंछिन हारइं रेहीया । पंछी हारिइं खोडि ॥१॥

सुय सारी दोरु गयु । रे रे संभलि लोइं।
प्रमदा केरी पीतडी । नर आवटण होइं ॥२॥

भणइ नरपति ए गोरडी । जेह नर नेह करंति।
खोटुं नाणुं बांधि करि । वडि विसायण जंति ॥३॥

जाजी धाडिइं रूडीइं । एक लडइं सिउं होइं।
मदन धाडि नरपति भणइं । नारी मरा चुकोइं ॥४॥

पुरव पोत कापड़ भलुं । भणइ नरपति नव भांति।
नारी का नरि वासिपडउ । कानरीइ दिनराति ॥५॥

नेह नरासु नारिनु । जइसा मग जल होइं।
नर युवन नरपति भणइं । नारी मरा चुकोइं ॥६॥

जिम वाघिणि वन माहली । विरडी विलगइ आय।
नारी वाघिणी नर हकी । वसतइ वलगी खाय ॥७॥

नाज पनपयो गमन । जिहांजाइ तिहां जोइं।
नयण बाण नारी तणो । जांन विलागां होइं ॥८॥

तांभाई तां रूयडा । जां मन मयल मजोय।
नयण बाण नारी तणो । जांन विलागां होय ॥९॥

काल अहिडी पारखेइं । भवसागर की पालि।
नर माछा कइं कारणिइं । नाखिउं युवती जाल ॥१०॥

तन मन यौवन धन हरइं । हर इति लोही मांस।
एता अवगुण नारी ना । गुण न किही आस ॥११॥

नारी नेह न कीजीइ । जिसा रंग पतंग।
पहिलूं चीत इयाडूउं । किम कहीइ नारी चंग ॥१२॥

भणइ नरपति सुणि बापडा । मझ सुणे यो सीख।
स्त्रीयां गूज प्रकासीउं । वगतुं पंडरीक ॥१३॥

कहइं नरपति सुणि बापडा । ए नारी नी घात।
एकइ फागइं फागसु । देसि वजाडइ वात ॥१४॥

जिम जलोजल माहिली । तिम नारी नर याणि ।
उलागी लोही पीइ । नारी पीइ पराणि ॥१५॥

वेद सिद्धांति आगला । जेता हारणि मूलि ।
नारी वचन जे सांभलइं । ते नर जाणइं धूलि ॥१६॥

चाचरि त्रुटिइं चुवटइं । ते छलीयां जीवंति ।
स्त्री यत्र वटइं जे छला । तेह नर मंत न तंत ॥१७॥

कहि नरपति सुणि बापड़ा । नारि भरा चुकोइं ।
नारी संगति जे करइं । ते नर भुगति न होइं ॥१८॥

वाच काछ बेनी गमइं । सर्वगुण जांइ जे संगि ।
तां बालक तां रूयडां । जाल गइं नरह निःसंक ॥१९॥

जब स्त्रीयां रस चाखीउ । उपरि चढ़इं कलंक ।
वैश्वानरइं गांठड़ी । वेला अवसरि वात ।
स्त्रीयां एइं गांठड़ी । दहति रही दिन राति ॥२०॥

जीणि मोहि ब्रह्मा वसइं । वसइति हरिहर सार ।
चंद हरण ए गोरडी । नरतणु सिणगांर ॥२१॥

किहां गोविंद सिउ गोठडी । किहां लखमण किहां लाज ।
जे संगति नारी वसइं । सिरइं न आवइं काजि ॥२२॥

स्त्रीयां मदन तलावली । छूडइं सकल संसार ।
काढण हारा को नहीं । छूडतां बूबनइं वाहार ॥२३॥

विण छूटइं तू काम रइं । रेरे संभलि भूर ।
किसी सगाई नारि सिं । जिह नइं सिरिसी दूरि ॥२४॥

एक ग्रह अति दो हलुं । एहवूं हीयडइं जोइं ।
कवि नरपति इम उचरइं । नारी नवग्रह होइं ॥२५॥

श्री अगरचन्द नाहटा

कई भाषाओं एवं बोलियों की मिश्रित रचनाएँ

भाषा भावों के प्रकाशन का सबल माध्यम है। यद्यपि आकृति और इंगित द्वारा भी भावों का प्रकाशन होता है पर वह बहुत ही सीमित हो सकता है। पशु-पक्षी अपने भावों का प्रकटीकरण अपनी अपनी बोलियों में करते हैं और चीत्कार, क्रन्दन आदि शब्द-ध्वनियों से भी भाव प्रकट करते हैं, पर उनके भाव ही बहुत सीमित हैं, जब कि मानव को प्रकृति ने मन एवं बुद्धि की विशेष शक्ति दी है और मन ही के द्वारा अनंत भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिए, उन विविध भावों को ठीक ढंग से प्रकाशित करने के लिए मानव ने भाषा या वाक्शक्ति का चरम विकास किया। अनन्त संज्ञाएं एवं शब्द प्रगट हुए और होते ही जाते हैं।

प्रकृति के नियमानुसार भाषा में परिवर्तन होता रहता है और सभी व्यक्तियों की भाषा एकसी नहीं होती। शब्दोच्चारण-ध्वनि और बोलने के लहजों से भी भाषा में परिवर्तन लक्षित होता है। कंठ के द्वारा जो ध्वनि प्रसारित होती है, उसमें भी प्रकृति ही से भिन्नता पाई जाती है, इसलिए हम प्रत्येक व्यक्ति को उसके 'स्वर' से सहज ही में पहचान सकते हैं। भारत में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "बारह कोसे बोली बदले" अर्थात् स्थान की थोड़ी थोड़ी दूरी में भी बोली में भेद हो जाता है। वैसे तो हम एक ही नगर में भिन्न भिन्न वर्गों की बोलियों में भी भेद पाते हैं। उन बोलियों की परम्परा आगे चलकर अपने-अपने परिवार और वंश में भी भिन्नता उत्पन्न कर देती है।

अनेक बोलियों का समूह एवं एकीकृत तथा परिष्कृत रूप ही "भाषा" है, पर वे बोलियां ऐसी होनी चाहिएं, जो एक दूसरे के भावों के समझने में बाधक न हों, व्याकरण की दृष्टि से भी उनमें समानता हो। भारतवर्ष बहुत विशाल देश है और वह अनेकों प्रांतों में बंटा हुआ है। प्राचीन युगों में उन प्रांतों के शासक भी अलग अलग रहे और अपनी अपनी सीमा की रक्षा का उन्हें ध्यान बना रहा, इसलिए भी, प्रांतीय भाषाएं और विविध बोलियां विकसित होती गईं। व्यापार, तीर्थ-यात्रा आदि के प्रसंग से एक प्रांत के लोग, दूसरे प्रांतों में जाते-आते रहे हैं, इसलिए भी एक-दूसरे की भाषा पर प्रभाव पड़ता रहा। वैसे निकटवर्ती प्रांतों की भाषाओं में तो यह प्रभाव और भी अधिक पाया जाता है। धर्म-प्रचारक लोग भी सभी प्रांतों में भ्रमण करते रहते थे, इसीलिए उनकी बोलियों में कई भाषाओं का संमिश्रण होता रहा और प्राय: उनका प्रयत्न भी यही रहा कि वे ऐसी भाषा में अपना धर्म-प्रचार करें, जिसे बहुत व्यापक प्रदेश के लोग सरलता से समझ सकें। अनेक प्रांतवासियों से उनका संबंध होने के कारण, उनको अनेक भाषाओं की जानकारी प्राप्त करनी आवश्यक थी। स्थान स्थान की ग्रामीण एवं सर्वसाधारण जनता तो अपनी एक ही स्थानीय बोली

में काम चला लेती थी, पर व्यापारियों और संत-महात्माओं आदि को तो कई भाषाओं की जानकारी प्राप्त करनी ही पड़ती थी। व्यापारी लोग अपनी आजीविका और व्यापार के निमित्त भारत के विभिन्न प्रदेशों ही में नहीं, अपितु, कई-कई तो विदेशों में भी जाते थे और वैसे ही उनके अपने नगरों में कई प्रांतों के लोग भी आते रहते थे। उनमें परस्पर वस्तुओं का आयात-निर्यात होते रहने से उन्हें कई भाषा-भाषियों से काम पड़ता था। इसलिए, दो-तीन भाषाओं की जानकारी तो उनके लिए अनिवार्य सी हो जाती थी। धर्म-प्रचारकों के लिए तो और भी अधिक भाषाओं की जानकारी अपेक्षित थी। प्रथमतः उनके धर्मग्रन्थ संस्कृत, प्राकृत आदि में होने के कारण उन भाषाओं का अध्ययन तो उन्हें करना ही पड़ता था, इसीलिए प्रांतीय-भाषाओं की भी कामचलाऊ जानकारी प्राप्त कर लेना उनके लिए आवश्यक था। पांच सात भाषाओं का जानना उनके लिए जरूरी और स्वाभाविक हो गया था।

जैन मुनिगणों का तो आचार ही निरंतर भ्रमण करते रहने का रहा, साथ ही पैदल विहार ही उनके लिए विधेय है। इसलिए सैकड़ों-हजारों गावों और प्रांतों में वे घूमते रहें हैं। जैन धर्म का प्रचार भारत के प्रायः सभी प्रांतों में रहा और आज भी है, इसलिए अपने अनुयायियों को जिन-वाणी सुनाने और धार्मिक आचार-विचारों में दृढ़ रखने का प्रयत्न करने के लिए जैन साधु-साध्वियों का गमनागमन अनेक प्रांतों में होता रहा है।

उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाओं में तो इतना अन्तर हो गया है कि उत्तर-भारत का कोई व्यक्ति दक्षिण-भारत में चला जाता है, तो वहां के लोगों की भाषा उसकी समझ में नहीं आती और यही हाल दक्षिण भारत वालों के उत्तर-भारत में आने पर होता है। पर, जैन-धर्म का प्रचार उत्तर और दक्षिण प्रदेशों में प्रायः समान रूप से रहा है, इसलिए, सबको तो नहीं, पर कुछ जैन मुनियों को तो इन दोनों प्रदेशों की भाषाओं का ज्ञान भी प्राप्त करना पड़ता था। जैन ज्ञान-भंडारों में इसीलिए विविध भाषाओं के संमिश्रण वाली रचनाएं अधिक मिलती हैं और उन्होने ऐसी रचनाएं शायद सबसे अधिक बनाई हैं। प्रस्तुत लेख में हम ऐसी कुछ रचनाओं की जानकारी देने का प्रयत्न करेंगे, जो तत्कालीन कई भाषाओं और बोलियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। खोज करने पर और भी ऐसी बहुत सी रचनाएं मिलेंगी।

जन-तीर्थंकरों ने अपने धर्म का प्रचार जनभाषा में किया। उनमें भगवान महावीर की वाणी ही आज हमें प्राप्य है। इससे पूर्ववर्ती तीर्थंकरों की रचनाएं अप्राप्त होने के कारण उनकी भाषा के स्वरूप के संबंध में कुछ कहा नहीं जा सकता। भगवान महावीर का विहार मगध-प्रदेश के आस-पास अधिक रहा, इसलिए उनकी भाषा का नाम अर्ध-मागधी पाया जाता है। अन्य प्रांतों में भी वह घूमे हैं और उनके उपदेश का यही उद्देश्य रहा है कि अधिक से अधिक जन साधारण उसे सरलता से समझ सकें, अतः उनकी भाषा में मागधी की प्रधानता होने पर भी अन्य भाषाओं का भी संमिश्रण था और इसीलिए उसे 'अर्ध-मागधी' कहा गया है। परवर्ती जैनाचार्यों ने भी जन-भाषा में धर्म-प्रचार की परम्परा चालू रखी, इसलिए परवर्ती आचार्यों के साहित्य की भाषा शौरसेनी तथा महाराष्ट्री के नाम से प्रसिद्ध है। जब प्राकृत भाषा से

जनभाषा में बहुत अधिक अंतर आ गया, तब उन्होंने 'अपभ्रंश' भाषा को भी अपनाया। संस्कृत के व्यापक प्रचार ने उन्हें उस भाषा में साहित्य-निर्माण के लिए प्रेरित किया। इसलिए संस्कृत में भी बहुत अधिक साहित्य लिखा गया, फिर भी प्राकृत की परम्परा भी अविच्छिन्न रूप से चलती रही। जैन-आगमों पर जो व्याख्या ग्रन्थ लिखे गये, उनमें निर्युक्ति और भाष्य तो प्राकृत में हैं, पर 'चूर्णियां' प्राकृत और संस्कृत-मिश्रित भाषा में रची गई हैं, जो छठी से आठवीं शताब्दी की रचना है। मध्यकाल के जैन टीकाकारों ने अपनी बहुत सी टीकाओं में प्राकृत संस्कृत को तो विशेष स्थान दिया ही है, साथ ही उन टीकाओं से अपभ्रंश में कथाएं आदि भी लिखी हैं; अर्थात् एक ही ग्रन्थ की टीका संस्कृत में है और उसमें कई कथाएं प्राकृत में हैं और कई अपभ्रंश में। 'उपदेश माला दोघट्टी वृत्ति' आदि ऐसे ही उदाहरण हैं। प्राकृत और संस्कृत तथा जनभाषा के सुभाषित तो संस्कृत ग्रन्थों में प्रचुरता से पाये जाते हैं, पर जैन-विद्वानों की संस्कृत भी अपनी निराली है। उसमें देशी भाषाओं के शब्द बहुत अधिक घुलमिल गये हैं। लोक-प्रचलित कुछ शब्दों का ज्यों का त्यों और कुछ का अपने ढंग से संस्कृतीकरण करके उन्होंने प्रयोग किया है। उन्होंने व्याकरण आदि के नियमों में भी शिथिलता कर दी है, इसीलिए पाश्चात्य विद्वानों ने उसे "जैन संस्कृत" के नाम से उल्लिखित किया है। संस्कृत नाटकों में तो स्त्रियों की बोली प्राकृत में रखने की परम्परा सी पड़ गई थी। दक्षिण भारत में भी 'मणिप्रवाल-पद्धति' का खूब प्रचार रहा है, जिसमें तमिल और संस्कृत संमिश्रित सी है। मध्यकाल के अनेक जैन मुनियों ने छः और आठ भाषाओं के स्तोत्र भी बनाये हैं। षटभाषा की प्रसिद्धि तो साहित्यिक ग्रन्थों में बहुत अधिक मिलती ही है। प्राकृत, संस्कृत, शौरसेनी, महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका और अपभ्रंश भाषाओं में एक एक पद्य वाले षट्-भाषा स्तोत्र तो दर्जनों मिलते हैं, पर, कुछ स्तोत्र आठ भाषाओं वाले भी हैं, जिनमें समसंस्कृत और अपभ्रंश इन दो भाषाओं में एक एक पद्य और हैं। केवल समसंस्कृत में रची गई कुछ स्तुतियां और स्तोत्र भी जैन विद्वानों द्वारा रचित मिलते हैं और समसंस्कृत तथा षट्-भाषा और अष्ट-भाषा वाले कई स्तोत्र प्रकाशित भी हो चुके हैं। समसंस्कृत ऐसी भाषा है, जिसमें प्राकृत और संस्कृत दोनों में एक से शब्द-प्रयोग हुए हैं। जैसे—

संसार दावानल दाहनीरं, संमोह धूलि हरणे समीरं।
माया रसा दारण सार सीरं, नमामि वीरं गिरिसार धीरं॥

प्राचीन जैन आगमों में अठारह देसी भाषाओं का उल्लेख मिलता है। पर, उनके नाम और उदाहरण प्राप्त नहीं होते; केवल अमुक व्यक्ति अर्थात् चरितनायक अठारह भाषाओं का जानने वाला था, इस रूप में उल्लेख मिलते हैं। पर, विक्रम संवत् ८३५ में जैलौर में जैनाचार्य उद्योतन सूरि रचित की 'कुवलयमाला कथा' में अठारह देसी भाषाओं का उल्लेख करते हुए सोलह प्रांतों की भाषाओं के उदाहरण भी दे दिये गये हैं, जो नवीं शताब्दी की भारतीय प्रांतीय भाषाओं के पारस्परिक अंतर को बहुत अच्छे रूप में व्यक्त करते हैं। कुवलयमाला, ग्रन्थ अभी अभी सिंघी जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित हुआ है। पर, उसका आवश्यक उद्धरण "अपभ्रंश काव्यत्रयी" में बहुत

वर्षों पहले संस्कृत छाया के साथ प्रकाशित हो चुका है। उसे थोड़े से विद्वानों ही ने देखा होगा, इसलिए अधिक महत्व का समझकर उसे यहां भी उद्धृत कर दिया जाता है। इस उद्धरण से भारत के सोलह प्रांतों के व्यक्तियों और उनकी भाषाओं की विशेषताओं पर एक महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। इन सोलह प्रदेशों के नाम ये हैं—

(१) गोल्ल (२) मध्यप्रदेश (३) मगध (४) अंतर्वेदी (५) कीर (६) टक्क (७) सिंध (८) मरू (९) गुर्जर (१०) लाट (११) मालव (१२) कर्णाटक (१३) तायिक (१४) कोसल (१५) महाराष्ट्र (१६) आंध्र।

यहाँ 'कुवलयमाला' के इन प्रांतों के व्यक्तियों और भाषाओं की विशेषताओं को प्रकट करने वाले कुछ पद्य उद्धृत किए जा रहे हैं—

कसिणे प्पिट्ठुरखयणे बहुकसमर भुंजए अलज्जे य।
'अररे' त्ति उल्लवंते अह पेच्छइ गोल्लए तथ्थ॥१॥
णय-णीति-संधि-विग्गहपडुए बहु जंपिरे य पयतीए।
'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपिरे मज्झदेसे य॥२॥
णीहरियपोट्ट दुव्वेण्णमड़हए सुरय केलितल्लिच्छे।
गेले जंपुल्ले, आह पेटइ मागहे कुमारो॥३॥
कविले पिंगलणयस्गे भोअणकहमेत्तदिण्णवावारे।
'कित्तो किम्मोजिअ' जंपिरे य अह अंतवेते य॥४॥
उत्तुंग–थूलाछोणे कणयवण्णे च मारवाहे य।
'सरि वा (पा) रि जंपिरे, कीरे कुमारो पलोएइ॥४॥
दक्खिण्ण - दाण - पोरूस - विण्णाण - दयाविवज्जि संरीरे।
'एहं तेहं' चवंते टक्के उण पेच्छए कुमारो॥६॥
सललित - मिदु - मंदपए गंधव्वपिए सदेस गयचित्ते।
'व (च) उडयमे' भणिरे सुहए अह सेन्धवे दिट्ठे॥७॥
बंके जड़े य जड्डे बहुभोई कठि (ढ) पा-पीण सू (थू) णंगे।
'अप्पा तुप्पा' भणिरे अह पेच्छइ मारूए तत्तो॥८॥
घयलो (ला) लियपुटठंगे धम्मपरे संधि-विग्गह-णिउणे॥
'णउ रे मल्लउं' भणिरे अह पेच्छइ गुज्जेर अबरे॥९॥
ण्हाउलित्त- विलित्ते कयसीमंते सुसोहियसुगत्ते।
'आहम्ह काइं तुम्हं मित्तु' भणि रे पेच्छइ लाडे॥१०॥
तणु - साम - मडहदेहे कोवणए माण - जीविणो रोद्दे।
'भाउअ भइणी तुम्हे' भणिरे अह मालवे दिट्ठे॥११॥
उक्कडदप्पे पिअमोहणे ए (प) यरोद्दे पयंगवित्तीय।
'आद्रि पोण्डि म (न) रे', भणिरे पेच्छइ कण्णाडए अण्णे॥१२॥

कुप्पासपाउअंगे मासरूई पाणमयणतल्लिच्छे।
'इसि किसी मिसि' भणमाणे, अह पेच्छइ ताइये अवरे॥१३॥
सत्थकलापत्तट्ठो (ट्ठे) माणी पिअकोवणे कढिण देहे।
'जलतल ले' भाणमाणे कोसलए पुलइए अवरे॥१४॥
दढ़ - मडह - सामलंगेसहिरे अहिमाण - कलह सीले य।
'दिण्णल्ले गहिल्ले' उल्लविरे तत्थ मरहट्ठे॥१५॥
पिअमहिला - संगामे सुंदरगत्ते य भोइणे रोद्दे।
'अटि पुटि रटिं' भणंतेर (अ) न्ध्रे कुमरो पलोएइ॥१६॥
इअ अट्ठारस देसी भाखाउ पुलइऊण सिरिअत्तो।
अण्णाइं अ पुलएई खस - पारस - बब्बरा दीए॥१७॥

१४वीं शताब्दी से तो ऐसी बहुत सी रचनाएं प्राप्त होने लगती हैं, जिनमें कई भाषाओं के एक एक पद्य हैं या एक ही पद्य में २ से लेकर ४ भाषाओं तक का प्रयोग किया गया है। 'खरतरगच्छ' के आचार्य जिनप्रभसूरि बहुत बड़े जैन-स्तोत्रकार हुए हैं। मुहम्मद तुगलक की राजसभा में वह सम्मानित हुए थे। संवत् १३८५ की पौष शुक्ल ८, शनिवार को वह दिल्ली में बादशाह मुहम्मद तुगलक से मिले थे और बादशाही सम्पर्क के कारण उन्होंने फारसी भाषा पर भी अधिकार प्राप्त कर लिया था। उनके रचित फारसी भाषा के २ स्तवन भी मिलते हैं। आपने षट्भाषा और अष्टभाषा के भी कई स्तोत्र बनाए हैं। इसके बाद तो १५ वीं से लेकर १८ वीं सदी तक के कई जैन विद्वानों के बनाए हुए षट्-भाषा-मय जैन स्तोत्र मिलते हैं। धर्म-वर्धन, कल्याण-तिलक, सोमसुन्दर आदि विद्वानों के रचित ऐसे स्तोत्र हमारे संग्रह में भी हैं। श्री जिनप्रभसूरि ने साहित्यिक भाषाओं के अतिरिक्त बोलचाल की चार भाषाओं की एक संयुक्त रचना भी बनाई है, जिसमें पूर्वी, मालवी, मराठी और गुजराती स्त्रियों से भाषा में एक एक शब्द कहलाया गया है। १४ वीं शताब्दी की चार भाषाओं के नमूने और उनकी विशेषताएँ उसमें हमें मिलती हैं।

१५ वीं शताब्दी के कवि देपाल ने 'जीरावल्लि पार्श्वनाथ रास' में मालव, मारवाड़, सोरठ, सिंध तथा गुजरात की स्त्रियों के संवाद में अपने अपने देश की विशेषताओं का वर्णन करवाया है। "मरु भारती" वर्ष २ अंक ३ में मैंने इस रास को प्रकाशित करवा दिया है। १७ वीं शताब्दी के महाकवि समयसुन्दर रचित संस्कृत-प्राकृत-भाषा-मय 'पार्श्वनाथ लघुस्तवन' और 'अष्टक' हमारे द्वारा सम्पादित 'समयसुन्दर कृति कुसुमांजलि' में प्रकाशित हो चुके हैं। इनमें से प्रथम स्तवन में प्रथम पंक्ति प्राकृत और दूसरी पंक्ति संस्कृत भाषा में है। यथा—

लसण्णाण - विन्नाण - सन्नाण - मेहं, (प्राकृत)
कलाभिः कलाभिर्युतात्मीय देहं। (संस्कृत)

मणुण्णं कला - केलि - रूवाणुगारं।
स्तुवे पार्श्वनाथं गुण - श्रेणि - सारं।।१।।

'अष्टक' में एक ही पंक्ति का आधा अंश लोकभाषा में है और आधा संस्कृत में है; यथा—

भलूं आज भेटयुं प्रभोः पादपद्मम्।
फली आस मोरी नितान्त विपद्मम्।
गयूं दुःख नासी पुनः सौम्यदृष्ट्या।
थयुं सुख झाझुं यथा मेघवृष्ट्या।।१।।

इस शैली में रची गई 'भीमकुमार कथा' भी पंजाब के जैन भंडार में मिलती है जिसमें ऊपर की पंक्ति संस्कृत में और नीचे की पंक्ति प्राकृत में है; यथा—

कपिशीर्षक दल कलितं जिन भवन सुकेसरं श्रियाश्लिष्टम्।
किन्तु जउ (ड ?) संगमुक्कं इहत्थि कमलं व कमलपुरम्।।१।।

१७ वीं शताब्दी की अष्ट-भाषा और नव-बोली छन्द नामक रचनाएं जैन भंडारों में तथा जैन मुनियों की लिखी हुई प्राप्त हुई हैं, जिनमें 'अष्टभाषा' नामक रचना का कर्त्ता 'शंकर' कवि है। इसमें गुजराती, ग्वालियरी, मराठी, कर्नाटी, दक्षिणी, सिंधवणी, पारसी और तिलंगी इन आठ भाषाओं के एक एक पद्य हैं। इस रचना को मैंने ग्वालियर से प्रकाशित 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित कराया था और श्री कस्तूरमल कासलीवाल ने पटना से प्रकाशित 'साहित्य' में जयपुर के दिगम्बर भंडारों में प्राप्त प्रति के आधार पर प्रकाशित कराया है। कवि शंकर ने प्रारम्भ में ही आठ भाषाओं के नाम दे दिए हैं, यथा—

गूर्ज्जेरि मरहट्टी ग्वालेरी,
कर्णाटी, दक्षिण, सिंधुकेरी।
तवुं सुगुण पारसी, तिलंगी,
सुणि कीरत अविराम सुरंगी।।

इसमें दक्षिणी भाषाओं को प्रधानता दी गई है, इसलिए यह अनुमान होता है कि कवि उधर अधिक रहा होगा। इसी तरह अनूप संस्कृत लायब्रेरी में आठ (?) देश की 'गुजरी' नामक एक रचना की त्रुटिपूर्ण प्रति है। उसमें पंजाबी, ब्रज, मेवात, लाहोरी, मारवाड़ी, ढूंढाडी, कावल बागड़ और गुजरात इन नव प्रदेशों की ग्वालिनी स्त्रियों से अपनी अपनी भाषा में एक एक पद्य कहलाया गया है। प्रारम्भ में लिखा है—

"पंजाबी, ब्रज की, मेवात की, लाहोरी, मारवाड़ी, ढूंढाडी, काबिल की, बागड़ की,

गुजराती जमन तीर ऊभी थी। ऐसे कान्ह गवाल साथी लिये आया। तब पंजाब की कह्या—भागि जाहु दाण मागैगा। कान्ह सबै भागती देखि दौड़ करि एक पकड़ी तब पंजाब की बोली—पत्तण आइ खड़ौ ता कन्हंड़ सुणि।"

इस रचना की प्रति १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ की लिखी हुई है।

१७वीं शताब्दी की एक अन्य रचना "नव बोली छन्द' संघपति डाहा के पुत्र राम कवि के द्वारा रचित मिलती है। इसकी तीन प्रतियां अनूप संस्कृत लायब्रेरी में और एक मुनि पुण्यविजय जी के संग्रह में हैं। इसमें गुजराती, थटेची, जैसलमेरू, मुलतानी, उत्तराधी, पूर्वी, तिलंगी, दिल-वालण और खुरासाणी, इन भाषाओं के एक एक पद्य हैं। प्रारम्भ के पद्य में नव भाषाओं के नाम दे दिए गए हैं—

श्री गुजरात थटेची राणी,
जैसलमेरू अनइ मुलताणी।।
उतराधिनी पूरवी तिलंगी,
पूछइ जेस नारि नवरंगी।।
दिलवारण जोगइ वरयाणी,
नवमी सिफति करइ खुरासानी।।?।।

इसी के अनुकरण में 'नव भाषा' नामक एक और रचना रणमल रचित मिलती है, जिसमें फतह खान का नाम भी प्राप्त होता है। इसके प्रारम्भ में भी, जिन जिन भाषाओं के एक एक पद्य दिए हैं, उनकें नामोल्लेख का एक पद्य है—

पूरबनी परवतन पठानी,
जंगल उखरक्की खुरसानी।
दिलवालन मुलतान गुजरीया,
मधुकर फतेखान नउतिरीया।।१।।

उपर्युक्त तीनों रचनाएं जैनेत्तर कवियों की हैं। इसी तरह हिन्दी के कवि 'अलि रसिक गोविन्द' कृत 'अष्ट-देश-भाषा' का विवरण सन् १९०६ से ८ की खोज-रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ था, जिसमें पंजाबी, ढूंढ़ाडी, ब्रज और रेखता आदि भाषाओं में राधाकृष्ण के रूप-सौन्दर्य का वर्णन है। इसकी चार पत्रों की प्रति बाबू रामनारायण, विजावर के संग्रह में होने का उल्लेख खोज-रिपोर्ट में है। प्रति प्राप्त न होने के कारण आठ भाषाओं के पूरे नाम और उदाहरण, इच्छा होने पर भी, नहीं दे पा रहा हूं।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि रहीम ने भी मिश्रित भाषा में रचनाएँ की हैं, जिनका परिचय 'रहीम-रत्नावली', में इस प्रकार दिया गया हैः—

मदनाष्टक—रहीम ने इस अष्टक की रचना संस्कृत कवियों की चाल पर मालिनी छन्द

में की है। भाषा रेखता तथा संस्कृत मिश्रित है। ऐसी मिश्रित कविता रहीम के बहुत पहले से होती चली आई थी। संवत् १४०० के लगभग शारंगधर ने अपनी 'सारंगधर-पद्धति' में श्रीकंठ का निम्नलिखित छन्द दिया है—

नूनं बादल छाइ खेह पसरी निःश्रागण शब्द खरः।
शत्रु पाडि लुटालि तोडि हानिसौं एवं भणान्त्युद्‌भटा।
झूठे गर्व भरामघालि सहसा रे कन्त मेरे कहे।
कंठे पाग निवेश जाह शरणं श्रीमल्लदेवं प्रभुम्॥१॥

संवत् १३८२ से पूर्व अमीर खुसरो ने फारसी-हिन्दी मिश्रित कविता लिखि थी और वह प्रसिद्ध भी है। केदार भट्‌ट रचित "वृत्तरत्नाकर" संस्कृत का एक ग्रन्थ है। उसकी संस्कृत टीका नारायण भट्‌ट ने संवत् १६०२ में लिखी थी। उसमें निम्नलिखित छंद मिश्रित-काव्य के उदाहरण में दिया गया है—

हरनयन समुत्थः ज्वाल वहन जलाया।
रति नयन जलौघैः खाक बाकी बहाया॥
तदपि दहति चेतो मामकं क्या करौंगी।
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी॥

ऐसे मिश्रित काव्य लिखने की प्रथा रहीम से कई वर्ष पहले प्रचलित थी और रहीम ने भी इस प्रकार की अनेक रचनाएं की हैं। रहीम के आश्रित गंग कवि के भी मिश्रित भाषा के कुछ छंद हमारे पास हैं। रहीम के इस प्रकार के ८ छंन्द तो 'मदनाष्टक' में हैं और २ छन्द 'रहीम काव्य' में हैं। इसके अतिरिक्त 'खेट कौतुक' नामक रहीम का ज्योतिष-ग्रन्थ भी मिश्रित भाषा में रचा गया है। यह ग्रन्थ भी फारसी और संस्कृत दो भाषाओं का मिश्रण है। ग्रन्थ सम्पूर्ण प्राप्त है और वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित भी हो चुका है। ग्रहों के फल इसमें दिए गये हैं और अंत में राजयोग पर एक अध्याय दिया गया है। मंगलाचरण के श्लोक के पश्चात् रहीम कहते हैं:—

फारसी पद मिश्रित ग्रन्थाः खलु पंडितै कृताः पूर्वैः।
संप्राप्यतत्पदपथं करवाणि खेट कौतुकं पद्मम्॥

आगे भी दिया है:—

यदा मुश्तरी केन्द्रखाने त्रिकोणे यदा वक्ताखाने रिपौ आफताबः।
अतारिद विलग्ने नरो वख्तऽपूर्णस्तदा दीनधारोऽघवा बादशाहः॥

जैन भंडारों में प्रांतीय भाषाओं और बोलियों के फुटकर पद्य भी बहुत से पत्रों में लिखे मिलते हैं, जिनमें से ढुंढाडी, मारवाडी, गुजराती, गोढ़वाड, पंजाबी, हाड़ोती और दक्षिण भाषा के

सवैयों को मैंने अपने "आठ प्रांतीय भाषाओं के सवैये" नामक लेख में प्रकाशित करवाये हैं, जो 'राजस्थान भारती' की जुलाई १९५३ की संख्या में छपा है। उपर्युक्त सात भाषाओं के बाद दो पद्य ऐसे दिए गए हैं, जिनमें एक ही सवैये में चार भाषाओं का संमिश्रण है, जिसमें पंजाबी, हिन्दी, गुजराती और मारवाडी भाषाओं की एक एक पंक्ति है। इस पद्य को 'चौबोली' भाषा का बतलाया गया है। ढुंढाडी, मारवाडी, गोढ़वाडी और हाड़ोती ये चारों भाषाएं तो राजस्थान की ही हैं।

हमारे संग्रह के एक और हस्तलिखित पत्र में छः भाषाओं के सवैये हैं—पंजाबी, मुलतानी, दक्षिणी, गुजराती, पूर्वी और मारवाड़ी। इनमें पूर्वी तो हिन्दी का ही एक रूप है। यद्यपि मुलतान भी पंजाब ही में है, तथापि मालूम होता है कि पंजाब के अन्य प्रदेशों से मुलतान की भाषा में कुछ विशेष अंतर रहा है, इसलिए उसको एक अलग भाषा मानकर उसमें स्वतंत्र पद्य निर्माण किया गया है। मुलतानी भाषा के और भी कई पद्य मुझे मिले थे, जिन्हें मैंने 'सप्त-सिंधु' में प्रकाशित करवाया है।

१७वीं शताब्दी के जैन कवि 'दामों' द्वारा रचित 'मदन शतक' की भाषा हिन्दी है, पर बीच बीच में मरुस्थली और पूर्वी का भी प्रयोग किया गया है। राजस्थान की बोलियों में भी अलग अलग पद्य लिखे गये हैं जिनमें मेवाड़ी, मारवाडी, जैसलमेरी, सिरोही, माड़ेची, बीकानेरी तथा जोधपुरी बोलियों के पद्य मैंने 'मरुभारती' वर्ष ५ अंक ४ में प्रकाशित कराये हैं।

संवत् १७६५ में मध्यप्रदेश के बुरहानपुर में रचित जैन कवि दामोदर के 'रसमोह श्रृंगार' नामक ग्रन्थ में पारसी, दक्षिणी, गुजराती और लाहोरी भाषा में भी पद्य पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ की एकमात्र प्रति हमारे संग्रह में है। इसी प्रकार बीकानेर के बड़े ज्ञान भंडार के एक गुटके में जैनाचार्य को दिया हुआ एक विज्ञप्ति लेख है। उसमें भी गुजराती और राजस्थानी की कई बोलियों के पद्य हैं। इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि समय समय पर साहित्य में कई भाषाओं का संयुक्त प्रयोग होता रहा है। कवियों और लेखकों ने उनके द्वारा अपनी बहुभाषा-विज्ञता का परिचय दिया है। इनमें कुछ में तो उत्तर-भारत की भाषाओं ही के उदाहरण हैं। उनके समझने में तो इतनी कठिनाई नहीं होती, पर दक्षिणी भारत की और फारसी भाषा की जानकारी न होने के कारण उनके उद्धरणों को ठीक से प्रकाशित करना कठिन हो जाता है। अभी कुछ वर्षों पहले भी ऐसे कई स्तोत्र आदि रचे गये थे, जिनमें आठ-दस भाषाओं का प्रयोग हुआ है। ऐसी एक रचना 'जैन सत्य प्रकाश' में छपी थी। मेरे भ्रातृ-पुत्र श्री भंवरलाल ने भी एक ऐसी रचना बनाई थी, जिनमें अंग्रेजी और बंगला के भी वाक्य रखे गये थे।

पाश्चात्य विद्वानों ने विविध भाषाओं पर प्रभुत्व प्राप्त करने का जो श्लाघनीय प्रयत्न किया है, वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आज भी वहां दस-बीस भाषाओं के ही नहीं, पर इससे भी अधिक भाषाओं के अच्छे जानकार विद्यमान हैं। भारतवर्ष में भी दस-पन्द्रह भाषाओं के जानकार तो कई मिलेंगे, पर आचार्य विनोबा भावे शायद इससे भी अधिक भाषाएं जानते हैं। आज तो घर बैठे भी अनेक भाषाओं का अभ्यास करने की सुगमता हो गई है। प्राचीन काल में जो ऐसे

प्रयत्न किये गये हैं, उनका महत्व वर्तमान की अपेक्षा बहुत अधिक है क्योंकि उस समय आज जैसे साधन सुलभ नहीं थे।

भावों की समानता तो प्रायः सारे विश्व के मानवों में बहुत कुछ मिलती है पर भाषा-भेद के कारण ही उस एकता का हम ठीक से अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। अतः आवश्यकता है कि भाषाओं का पारस्परिक भेद कम किया जाय और दो-चार भाषाएं ऐसी हों, जिनका प्रचार सारे विश्व में अधिक से अधिक किया जाय। इससे आज के यात्रियों को जो जो असुविधा होती है, वह मिट जायगी और एक दूसरे को ठीक से समझने एवं निकट सम्पर्क में आने से पारस्परिक सद्-भावना और प्रेम की अभिवृद्धि होगी। भाषाओं की भांति लिपि में भी एकता या समानता अधिकाधिक होनी चाहिये। वस्तुतः कई भाषाओं में इतना भेद नहीं होता पर लिपिभेद के कारण हम उनकी रचनाओं से लाभ नहीं उठा पाते। एतदर्थ भाषा और लिपि के भेदों को कम करने के प्रयत्नों की आवश्यकता है। ऐसा न हो तब भी हमें अधिकाधिक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहना आवश्यक है, जिससे हम अन्य भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य का रसास्वादन कर सकें। प्राचीन काल में भाषा-साम्य के जो प्रयत्न हुए, उनका भी सम्यक् ऐतिहासिक अनुसंधान होता रहना चाहिये।

डाक्टर श्रीराम शर्मा

दक्षिण, दक्षिणापथ और दक्खन

गोदावरी तथा कृष्णा के बीच का प्रदेश भारतीय इतिहास के अनेक गौरवपूण पृष्ठों से सम्बन्ध रखता है। हमारे देश के चर्तुदिकव्यापी विस्तृत अन्तिम छोरों को राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक साम्य प्रदान करना मनीषियों के लिए ही नहीं, आयुधजीवियों के लिए भी दुःसाध्य कार्य है, किन्तु अनेक ज्ञात-अज्ञात कारणों से इतिहास के आरंभिक काल से यह साम्य बहुत सी बातों में विद्यमान रहा है। देश-विदेश के विद्वान अनेक प्रकार से उत्तर तथा दक्षिण के विभेदों को गत सौ वर्षों से प्रस्तुत करते रहे हैं, किन्तु नृवंश, जाति, भाषा, मान्यता, सामाजिक संगठन और परम्परा की दृष्टि से उत्तर-दक्षिण अथवा आर्य और द्रविड़ों की पृथकता के जितने उदाहरण इतिहास, तुलनात्मक भाषा-विज्ञान और नृवंशशास्त्र के पृष्ठों में अंकित हैं, उनसे अधिक उदाहरण देश के प्राचीन वाङ्मय तथा जन-जीवन में उपलब्ध हैं, जो उत्तर तथा दक्षिण की विभाजक रेखा के अस्तित्व की साक्षी नहीं देते। उत्तर दक्षिण के विभिन्न जन-समूहों में अभिन्नता और साम्य के अनेक उपकरण क्रियाशील रहे हैं। इस अभिन्नता और साम्य की स्थापना में गोदावरी कृष्णा के मध्य में स्थित भूप्रदेश ने महत्वपूर्ण योग दिया है। पूर्व से पश्चिम तक फैली हुई विन्ध्य और सतपुड़ा की अगम्य श्रृंखलाओं को दोनों ओर के अगणित अगस्त्यों ने पदयात्रा के युग में पराजित किया था। उसी युग से गोदावरी कृष्णा का भूप्रदेश सामाजिक व्यवस्था, मानवी भावों और चिन्तन-क्षेत्र में दक्षिणी समुद्र तट से कावेरी की उपत्यका तक किये गये महत्वपूर्ण अनुष्ठानों का सम्बन्ध सिन्धु, शतद्रु, वितस्ता, गंगा, यमुना और सरस्वती के तीर पर अनुष्ठित साधनाओं तथा प्राप्त सिद्धियों के साथ स्थापित करता रहा है।

अन्य तीन दिशाओं के निवासियों की भांति उत्तर वैदिककालीन साहित्य में दक्षिण निवासियों का उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य में दक्षिणापथ और दक्षिण शब्द का प्रयोग केवल दिशा-वाची नहीं है। दक्षिण के विभिन्न प्रान्तों और निवासियों से महाकाव्य-काल के मनीषी परिचित थे। आरम्भ में "दक्षिणापथ" शब्द का प्रयोग उस मार्ग के लिए किया जाता था जो विन्ध्याटवी से दक्षिण की ओर जाता था। कुछ काल के पश्चात इस पथ के आसपास बसे हुए प्रदेश के लिए "दक्षिणापथ" शब्द का प्रयोग होने लगा। जब नल-दमयन्ती विपत्ति के समय दण्डकारण्य और उससे सम्बन्धित लघु लघु अरण्यानियों को पार कर दक्षिण की ओर अग्रसर हुए तो वे दोनों ऐसे स्थल पर पहुँचे जहाँ अनेक मार्गों का मिलन होता था। एक मार्ग विदर्भ को जाता था, दूसरा कौसलों के देश को। दक्षिणापथ की ओर जानेवाले अनेक मार्ग वहाँ से प्रारंभ होते

थे।[1] इस प्रकार महाभारत काल में "दक्षिणापथ" शब्द प्रान्तविशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा था। दक्षिण के द्रविड़ों का प्रदेश दक्षिणापथ से भिन्न था। कोप भवन में रोष प्रकट करती हुई कैकेयी के समाश्वासन के लिए महाराज दशरथ ने कहा था– "द्रविड़, सिन्धु-सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिणापथ, बंग, अंग, मगध, मत्स्य, काशी और कौसल के पास जो सम्पति है, सब तुम्हें दे सकता हूँ।"[2]

गुप्तकाल में नर्मदा से लेकर कन्याकुमारी तक दक्षिणापथ माना जाता था। गुप्तकालीन शिलालेखों में इस बात का उल्लेख मिलता है। राजशेखर (८८०-९२० ई०) ने आर्यावर्त्त तथा दक्षिणापथ की सीमा माहिष्मती नगरी को माना है।[3] इन्दौर से चालीस मील दूर नर्मदा के तट पर अवस्थित महेश्वर ग्राम प्राचीन माहिष्मती माना जाता है। इन उल्लेखों से पता चलता है कि दक्षिणापथ की उत्तरी सीमा नर्मदा बनाती थी किन्तु दक्षिण में उसकी सीमा निश्चय नहीं थी। महाकाव्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि किसी समय दक्षिणापथ की दक्षिणी सीमा आन्ध्र से जुड़ती थी।

बाल्मीकि रामायण में कुछ स्थलों पर दक्षिणवासियों के लिए 'दाक्षिणात्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि दक्षिण के निवासी रामायण-काल में एक नाम से सम्बोधि

---

१. एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम्।
अवन्तीभृक्षवन्तं च समतिक्रम्य पर्वतम्।।
एष विन्ध्यो महाशैलः पयोष्णी च समुद्रगा।
आश्रमाश्च महर्षीणाममी पुष्पफलान्विताः।।
एष पन्था विदर्भाणामयं गच्छति कौसलान्।
अतः परंच देशोऽयं दक्षिणे दक्षिणापथः।।

--महाभारत–सम्पादक बी० ए० सुखरनकर, भांडारकर ओ० इंस्टिट्यूट १९३२, ३।५८।२०–२२

२. द्रविड़ाः सिन्धु सौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
वङ्गाङ्ग मगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः।।
तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्ययजाविकम्।
ततो वृणीष्व कैकेयी यद्यत्त्वं मनसेच्छसि।--वाल्मीकि रामायण, अयो० १०।३७-३८

३. माहिष्मत्याः परतो दक्षिणापथाः। यत्र महाराष्ट्र माहिषकाश्मक विदर्भकुन्तल क्रथकैशिक सूर्पारक काञ्ची केरल कावेर मुरल वानवासक सिंहल चोड दण्डका पाण्ड्य पल्लव गांग नाशिक्य कौंकण कोल्लगिरि वल्लर प्रभृतयो जनपदाः--राजशेखर, काव्य-मीमांसा, (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना १९५४ ई०) पृ० २२६।

होने लगे थे।[1] राजशेखर के समय तक संस्कृत के विद्वान दाक्षिणात्य शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में करते थे।[2]

महाकाव्यों के समय में दक्षिण भारत अनेक प्रान्तों में विभक्त था और प्रत्येक प्रान्त का व्यक्ति 'दाक्षिणात्य' शब्द के अतिरिक्त अपने प्रान्त के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था। इस समय दक्षिण में आन्ध्र, कर्णाटक, तमिलनाड और केरल जिस क्रम से बसे हुए हैं, महाकाव्यों के काल में भी यही क्रम विद्यमान था। दक्षिणापथ पार करने वाला व्यक्ति आन्ध्र से यात्रा प्रारंभ करता था। सीता की खोज के लिए जो वानर दक्षिण दिशा की ओर जा रहे थे उनका मार्ग-निर्देशन करते समय सुग्रीव ने कहा था——विन्ध्याचल, नर्मदा, कृष्णवेणी, वरदा, दण्डकारण्य और गोदावरी के आसपास के प्रदेशों में खोज करने के पश्चात आन्ध्र, पुंड्र, चोल, पांड्य और उसके पश्चात अयो-मुख पर्वत पर जाना चाहिये ?[3]

उत्तर से दक्षिण में स्थल-मार्ग से जाने पर आन्ध्र पार करना पड़ता था। भाषाशास्त्री तथा इतिहासज्ञ यह प्रमाणित करते रहे हैं कि भाषा और रक्त की दृष्टि से आन्ध्र-जन भी द्रविड़-कुल से सम्बन्धित हैं,किन्तु संस्कृत के महाकाव्यों में आन्ध्र और द्रविडों को भिन्न भिन्न अंकित किया गया है। महाकाव्यों के रचयिता आन्ध्र प्रदेश और आन्ध्र जनों से परिचित थे। दक्षिण के द्रविड़ और कुन्तलों से आन्ध्र भिन्न माने जाते थे। तालचर, चूचुप, वेणुप जैसी गिरि-गह्वर निवासी जातियों

---

१. प्राचीनान् सिन्धु सौवीरान् सौराष्ट्रेयांश्च पार्थिवान्।
दाक्षिणात्यान्नरेन्द्रांश्च समस्तानानयस्व ह॥——वाल्मीकि रामायण, बाल० १३।२६

२. पाञ्चाल नेपथ्यविधिर्नराणां।
स्त्रीणां पुनर्नन्दतु दाक्षिणात्यः॥
यज्जल्पितं यच्चरितादिकं त-
दन्योन्य संभिन्नमवन्तिदेशे॥——काव्य-मीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, तृतीय अध्याय, पृ० २०

३. सहस्रशिरसं विन्ध्यं नानाद्रुमलतायुतम्।
नर्मदां च नदीं दुर्गां महोरगनिषेविताम्॥८॥
ततो गोदावरी रम्यां कृष्णवेणीं महानदीम्।
वरदां च महाभाग महोरगनिषेविताम्॥९॥
अन्वीक्ष्य दण्डकारण्यं सपर्वत नदीगुहम्।
नदीं गोदावरीं चैव सर्वमेवानुपश्यत॥१२॥
तथैवान्ध्रांश्च पुण्ड्रांश्च चौलान्पाण्ड्यान् सकेरलान्।
अयोमुखश्च गन्तव्यः पर्वतो धातुमण्डितः॥१३॥
——वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग ४०

का समावेश न आन्ध्रों में किया जाता था और न द्रविड़ों में। ये जातियाँ आज भी असभ्यावस्था में पर्वतों और अरण्यों में रहती हैं। आन्ध्र तथा कर्णाटक के अरण्यों और पर्वतों में बसने वाले भारत के प्राचीन निवासी गोंड आदि आज भी द्रविड़ों से पृथक अस्तित्व रखते हैं। महाभारत में इन जातियों का उल्लेख मिलता है।[1]

एक स्थान पर आन्ध्र, पाण्ड्य तथा केरल में से किसी शब्द का प्रयोग न करते हुए केवल द्रविड़ शब्द का प्रयोग हुआ है।[2] आन्ध्रों का उल्लेख उत्तरवैदिक काल के साहित्य में मिलता है।[3]

अशोक के शिलालेखों में कुछ दाक्षिणात्य जनों-भोज, महाभोज, सत्तियपुत्त, केरलपुत्त, पेतेनिक, पाण्ड्य और चोलों का उल्लेख मिलता है। दक्षिणापथ का बड़ा भाग आगे चल कर महाराष्ट्र में सम्मिलित हो गया। महाराष्ट्र और उसके निवासियों का उल्लेख महाकाव्यों में उस रूप में नहीं मिलता, जिस रूप में आन्ध्र, द्रविड़ तथा उनके प्रदेशों का वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम वराह मिहिर ने (५०५ ई०) में महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग प्रान्त विशेष के लिए किया है। सत्याश्रम पुलकेशी के बदामीवाले शिलालेख (६६१ ई०) में भी प्रान्त के अर्थ में महाराष्ट्र शब्द का प्रयोग हुआ है। महाराष्ट्र के तीन भाग हैं—(१) अपरान्त (कोंकण), (२) विदर्भ, (३) दण्डकारण्य। विदर्भ तथा दण्डकारण्य पुराने दक्षिणापथ से सम्बन्धित थे।

बहुत से इतिहासज्ञ इस विचार का प्रतिपादन करते हैं कि आर्यजन विन्ध्याद्रि को

---

१. पुरागमाश्च ते सन्तु द्रविडाः सहकुन्तलैः।
आन्ध्रास्तालचराश्चैव चूचुपावेणुपास्तथा॥

—महाभारत, ५।१३८।२५

आकर्षः कुन्तलश्चैव वानवास्यान्ध्रकास्तथा॥११॥
द्रविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा।
कुन्तिभोजो महातेजाः सुह्मश्च सुमहाबलः॥१२॥

—महाभारत, २।३१

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोड्र केरलैः।
आन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिंगानोष्ट्र कर्णिकान्॥

—महाभारत, २।२८।४८

२. एवं ते द्रविडाभीराः पुंड्रांश्च शबरैः सह।
वृषलत्वं परिगता व्युत्थानात् क्षत्रधर्मिणः॥

—महाभारत, १४।२९।१६

३. तस्य हा विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः। पञ्चाशदेवज्यायांसो मधुच्छन्दसः पंचाशत कनीयांसः। तद्ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे।ताननुव्याजहान्तान्वः। प्रजा भक्षिष्टेति तऽएतेऽन्ध्राः पुण्ड्राशवराः पुलिन्दा मूतिबा इत्याद्युदन्त्या बहवो भवन्ति—ऐतरेय ब्राह्मण ७।३१८

पार कर के दक्षिणापथ में बसे थे। कुछ आर्यजनों के सम्बन्ध में अशोक के उल्लिखित शिलालेख से जानकारी प्राप्त होती है ––

सत्तियपुत्त-सात्वतपुत्र सत्तियपुत्त कहाने लगे। ये लोग उत्तर से दक्षिणापथ में आये थे। गौरीशंकर ओझा ने सत्तियपुत्त का सम्बन्ध 'सत्यपुत्र' से और डा० केतकर ने इसका सम्बन्ध 'सतपुड़ा' शब्द से जोड़ा है। 'पेतेनिक' का सम्बन्ध पैठन (प्रतिष्ठान) नगर से है। कुछ लोग जनवाची 'महाराष्ट्रिक' और प्रान्तवाची 'महाराष्ट्र' शब्द में सम्बन्ध स्थापित करते हैं। कुछ राष्ट्रिकजन बेलगाँव और सोलापुर के निकट बस गये। राष्ट्रिकों की मातृभाषा पांचाली थी। उत्तरभारत की एक क्षत्रिय जाति 'वैराष्ट्रिक' महाराष्ट्र में बस गई। वैराष्ट्रिक लोग उत्तर कुरु और उत्तर मद्र से आये थे। उनकी भाषा अपभ्रंश थी।

अधिकांश इतिहासज्ञ द्रविडों और आर्यों को भिन्न भिन्न जातियों से सम्बन्धित मानते हैं। इस सम्बन्ध में जो प्रमाण दिये जाते हैं वे विवाद रहित नहीं है। इस विवादास्पद सामग्री के सम्बन्ध में यहाँ विचार करना विषय की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। कुमारिल भट्ट के समय में जब ब्राह्मणों को पञ्चगौडों और पञ्चद्रविड़ों में विभक्त किया गया तब तमिल, आन्ध्र और कर्णाटक के साथ साथ गुर्जर तथा महाराष्ट्र के ब्राह्मण पंचद्रविड़ कहलाने लगे।

५०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक उत्तर के निवासी बड़ी संख्या में दक्षिणापथ में बसते रहे और वहाँ से कुछ परिवार दक्षिण की ओर अग्रसर हुए। ५०० ई० पू० से ६०० ई० पु० का ग्यारह सौ वर्ष का काल भारतीय आर्यभाषा की दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण था। मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के समस्त परिवर्तन इसी युग में हुए और नव्य भारतीय आर्यभाषा में जो क्रान्तिकारी परिवर्त्तन प्रकट हुए उनका सूत्रपात भी इसी युग में हुआ। कुरु, पांचाल, मद्र, और मगध से प्रव्रजित नागरिक अपनी क्षेत्रीय प्राकृतों के साथ दक्षिणापथ में आये थे, इन विभिन्न प्राकृत भाषियों के सम्मिलन से एक परिष्कृत सामान्य प्राकृत का प्रचलन हुआ, जो 'महाराष्ट्री' के नाम से प्रसिद्ध हुई और दीर्घकाल के लिए उत्तर भारतीयों के लिए भी वह आदर्श भाषा का काम देती रही। परिष्कृत भाषा होने के कारण महाराष्ट्री कुछ काल के लिए समस्त भारत में महत्वपूर्ण स्थान पर आसीन रही।

६०० ई० पू० से १२ वीं शती तक उत्तरवासियों का आगमन कुछ रुक गया। जब १३वीं शती में मुसलमानों ने दक्षिण पर आक्रमण किया तो तब से लेकर १९ वीं शती तक उत्तर के सहस्रों परिवार यहाँ आकर फिर बस गये। उन्होंने चोल, केरल और पांड्य के निवासियों को पराजित किया और आन्ध्र तथा कर्णाटक में दूर दूर तक कई नये ग्राम और नगर बसाये। इन अभियानों से पहले जो उत्तरवासी दक्षिणापथ में बस गये थे उन्हें भी नवागन्तुकों के सम्मुख परास्त होना पड़ा था। नवागन्तुकों के नेता एक भिन्न धर्म तथा संस्कृति के पोषक थे और दूसरे धर्म तथा इस देश के निवासियों की संस्कृति के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न था, अतः दक्षिण में एक नये युग का श्रीगणेश हुआ।

गत पाँच-छः शताब्दियों से 'दक्खिन' या 'दक्खन' शब्द जिस सीमित क्षेत्र के लिए प्रयुक्त

होता रहा है, उतने सीमित क्षेत्र के लिए कभी 'दक्षिण' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। उत्तर में नर्मदा, पश्चिम में ताप्ती और पूर्व में महानदी से समुद्र पर्यन्त की भूमि दक्षिण भारत के नाम से सम्बोधित होती रही है, किन्तु मुसलमानों के आगमन के पश्चात 'दक्खिन' शब्द उस भूभाग के लिए प्रयुक्त होने लगा जो किसी समय 'दक्षिणापथ' था। खानदेश, बरार और अपरान्त को छोड़ कर शेष महाराष्ट्र दक्खिन कहलाने लगा। कुछ प्रमाण ऐसे मिलते हैं जिनके अनुसार गोदावरी और कृष्णा के बीच का प्रदेश दक्खिन था। जब मुगलों ने दक्षिण के स्वतंत्र राज्यों को समाप्त करके अपने साम्राज्य का विस्तार किया तो 'दक्खिन' शब्द भी व्यापक क्षेत्र के लिए प्रयुक्त होने लगा।

अकबर ने प्रशासनिक दृष्टि से मालवा, बरार, खानदेश और गुजरात को मिला कर दक्खिन प्रदेश बनाया था। आगे चल कर अहमदनगर राज्य का क्षेत्रफल भी दक्खिन प्रदेश में सम्मिलित हो गया। राजकुमार दानियाल दक्खिन का राज्यपाल नियुक्त हुआ।[१] जहाँगीर तथा शाहजहाँ के समय में मालवा तथा गुजरात को छोड़ कर दक्खिन की स्थिति पूर्ववत बनी रही। औरंगजेब के काल में दक्खिन में आन्ध्र तथा कर्णाटक का बहुत बड़ा क्षेत्र सम्मिलित हो गया। गोलकुण्डा और बीजापुर के पतन के कारण यह संभव हो सका। औरंगजेब के अभियान से बहुत पहले दक्षिण के मुस्लिम शासक विजयनगर को परास्त कर चुके थे। अतः विजयनगर द्वारा शासित सुदूर दक्षिण पर मुगलों का अनायास अधिकार हो गया। इस स्थिति में अकबर कालीन 'दक्खिन' की सीमाओं में परिवर्तन हुआ। मालवा तथा गुजरात दक्खिन में नहीं रहे। औरंगजेब ने छः प्रदेशों को मिला कर 'दक्खिन प्रान्त' की रचना की। ये छः प्रान्त थे–(१) बरार, (२) खानदेश, (३) औरंगाबाद, (४) हैदराबाद, (५) मुहम्मदाबाद (बीदर), (६) बीजापुर।[२]

औरंगजेब की विजय से पहले बीजापुर और गोलकुण्डा के शासक अपने को दक्खिन का शासक मानते थे। यदि इन शासकों की धारणा को स्वीकार कर लिया जाय तो विन्ध्याचल से लेकर दक्षिण में मुगलों द्वारा शासित विदर्भ और खानदेश के अतिरिक्त उस समय के गोलकुण्डा और बीजापुर राज्य के क्षेत्रफल को मिला कर दक्खिन बनता था। गोलकुण्डा के लोग तेलंगाना को दक्खिन का श्रेष्ठ भूभाग मानते थे। तेलुगु भाषी प्रदेश काकतीय वंश की पराजय के पश्चात दो भागों में विभक्त हो गया था। लगभग आधे भाग पर विजयनगर का और आधे पर गोलकुंडा का शासन था। जिस प्रदेश पर गोलकुंडा के कुतुबशाहों का अधिकार था, उसका एक भाग तेलंगाना कहलाता था और आज भी इस क्षेत्र का यही नाम प्रचलित है। इस क्षेत्र के सम्बन्ध में गोलकुंडा के कवि वजही ने लिखा है —

दखन-सा नईं ठार संसार में।
पंच फ़ाज़िलाँ का है इस ठार में।

---

१. विन्सेण्ट स्मिथ--अकबर।

२. यदुनाथ सरकार--औरंगजेब (द्वितीय खण्ड)

दखन है नगीना अँगूठो है जग।
अँगूठी कूँ हुरमत नगीना है लग।
दखन मुल्क कूँ धन अजब साज है।
के सब मुल्क सर होर दखन ताज है।
दखन मुल्क भोती च ख़ासा अहै।
तिलंगाना इसका ख़ुलासा अहै॥[१]

गोलकुण्डा का शासक मुहम्मद कुली कुतुबशाह अपने मुकुट को दक्खिन की राज्यसत्ता का प्रतीक मानता था।

दिसें नारियल के फल यूँ जमर्रुद मर्तबानाँ जूँ।
होर उसके ताज कूँ कहता है प्याला कर दखन सारा॥[२]

बीजापुर के कवियों ने बीजापुर नरेश को दक्खिन का शासक बतलाया है। नुसरती ने अपने आश्रयदाता अली आदिलशाह (द्वितीय) के सम्बन्ध में लिखा है ––

दखन नित है इस फ़ख़्र ते बाग़ बाग़।
के तिस घर में तुझ-सा गुहर शब-चिराग़।[३]

----

१. वजही––कुतुब मुश्तरी, (हिन्दी संस्करण) दक्खिनी प्रकाशन समिति, हैदराबाद, पृ० १७९

२. मुहम्मद कुली कुतुबशाह––कुल्लियाते मुहम्मद कुली कुतुबशाह, (उर्दू संस्करण), सालारजंग दक्खिनी पब्लिकेशन, हैदराबाद।

३. नुसरती––अलीनामा, हस्तलिखित प्रति, सालारजंग का हस्तलिखित पुस्तक-संग्रहालय।

डाक्टर श्याम परमार

संतों की रहस्योन्मुखी प्रवृत्तियों का लोकजीवन पर प्रभाव

संत-साहित्य के पृष्ठों में कतिपय धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव सदैव रहा है। लिखित रूप में ऐसा साहित्य, जो धार्मिक परम्पराओं का विश्लेषण करने में सहायक हो, बहुत कम उपलब्ध हो सका है। काल के प्रवाह में संभवतः पर्याप्त सामग्री लुप्त हो चुकी है और अब यही विश्वास किया जाता है कि कदाचित् पुराने घरों, मन्दिरों और मठों में पोथियों के रूप में यत्र-तत्र उपयोगी सामग्री दबी होगी। अतएव संत-परम्परा का विवेचन-सामग्री के अभाव में केवल पिछले कुछ वर्षों में संकलित किये गये लिखित एवं लोक-प्रचलित साहित्य के आधार पर प्रस्तुत करने का उपक्रम किया जा सकता है। स्थूलतः ऐसा सम्पूर्ण साहित्य लोक-साहित्य की श्रेणी में आता है। पंडित राहुल सांकृत्यायन के शब्दों में "अधिकांश संत कवि लोककवि थे"[1] इस दृष्टि से सोचने की प्रवृत्ति हिन्दी के कुछ प्रमुख आलोचकों में अब उत्पन्न भी हो गई है। नवीन शोधकार्य के परिणाम-स्वरूप यह मत पुष्ट हो रहा है। अतएव, भारतीय भाषाओं का संत-साहित्य अनेक अंशों में लोक-साहित्य माना जा सकता है। लोक भाषाओं का संत-साहित्य उससे भिन्न नहीं है। साथ ही यह साहित्य गीतिकाव्य के अन्तर्गत आता है। इसलिये लोक-साहित्य का अंग होने के नाते उसे हम लोकगीत-वर्ग का काव्य कहेंगे।

संत-काव्य की परम्परा सहज विकासोन्मुखी सिद्ध हुई है और चूंकि अधिकांश संत लोक-जीवन के अत्यन्त निकट होकर लोकपरक एवं लोक-भाषा में ही अभिव्यक्ति के कायल रहे हैं, इसलिये वे उन समस्त प्रवृत्तियों को छू सके जो मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता रखती हैं। पंडित परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में संत काव्य की परम्परा "उस काल से विद्यमान है जब कि भाषा के ऊपर किसी व्याकरणशास्त्र का नियंत्रण न था और न उसके काव्य-रूप की व्यवस्था के लिए किन्हीं छन्द नियमों की सृष्टि हो पाई थी।" आगे चलकर क्रमशः इस परम्परा में दो स्पष्ट धाराएं साथ-साथ चलने लगीं। एक वह जो शास्त्रीय नियमों से आवद्ध हुई और दूसरी वह जो स्वाभाविक रूप से लोकपरक रही तथा जहां छन्दशास्त्र के ऊपरी नियम अपवाद स्वरूप सिद्ध हुए।

उक्त धाराओं में प्रथम का बहुत कुछ साहित्य लिपिबद्ध किया जा सका है। वह भी इसलिये कि उसमें निहित गाम्भीर्य तथा रचयिताओं के व्यक्तित्व की मिली-जुली छाप लिपिकर्ता

----

१. "संत दर्शन" (डा० त्रिलोकीनारायण दीक्षित), राहुलजी लिखित भूमिका, पृष्ठ १, साहित्य-निकेतन, कानपुर।

भक्तों पर समय-समय पर पड़ती रही। उपदेशात्मक तत्वों का आधिक्य तथा अन्तर को छू जाने वाली उक्तियों के बाहुल्य ने भी उसे लिपिबद्ध कराने में योग दिया है। किन्तु लेखन से छूटा हुआ अपार साहित्य अभी मौखिक रूप से ही अवशिष्ट है। वह न केवल हिन्दी में ही मिलता है, अपितु उत्तर तथा दक्षिण की समस्त प्रान्तीय भाषाओं में भी बिखरा हुआ है। उसे ही हम लोक-गीत वर्ग का साहित्य स्वीकार करेंगे, क्योंकि उनमें उन सभी नियमों का उल्लंघन उपलब्ध है जो लोक गीतों को "कविता" की श्रेणी में लाने के लिए अपेक्षित होते हैं। संतों की सहजवाणी लोकगीतों की तरह विस्तृत होकर उस कड़ी में जुड़ती गई जो लोकगीत की भांति कंठ की सम्पत्ति है।

यहां प्रश्न उठता है कि यदि संतों की मौखिक परम्परा का यह साहित्य लोकगीत वर्ग का है तो उसमें वे सभी प्रतीक, उपमान, उक्तियां और परम्परा से प्रचलित संत-साहित्य की शब्द-व्यंजना कैसे आयी! संत तो सभी लोक जीवन के निकट थे, पर सत्संग के विस्तार ने आदान-प्रदान की प्रवृत्ति को निखारा और प्रभावशाली संत कवियों ने लोक कवियों में प्रेरणा का संचार किया। इसी तरह कहा जा सकता है कि बहुत-सी लौकिक उक्तियां शास्त्रीय नियमों से बद्ध सन्त काव्य में भी समाविष्ट हुईं। इस पारस्परिक विनिमय के परिणाम स्वरूप भाषा और शैली के कुछ निर्धारित अंश लोकभाषा के संत काव्य में प्रविष्ट हो गये। कबीर की साखियां तथा सूर और मीरा के पद तो लोकगीत वर्ग के संत काव्य में मूल से भिन्न होकर सर्वग्राही अभिव्यक्ति के कारण पर्याप्त मात्रा में प्रचलित हैं। परवर्ती भक्तों ने श्रद्धावश इन्हीं संतों के नामों की छाप भी निःसंकोच दी है। अवधी में तुलसी की छाप के गीत और मैथिली में विद्यापति के नाम से अभिहित लोक प्रचलित रचनाओं का अभाव नहीं है।[१] यह प्रवृत्ति स्पष्टतः श्रद्धा की सूचक है। कबीर के प्रति श्रद्धा का आज भी अभाव नहीं है। उसके नाम का आसरा लेकर अनेक लोक कवियों ने अपनी वाणी का जादू दिखाया है।

कुछ शताब्दियों पूर्व महाराष्ट्र (ज्ञानदेव, नामदेव आदि), गुजरात (नरसी मेहता) राज-स्थान (मीराँ), संयुक्तप्रान्त (रामनंद, कबीर, दादू आदि), बंगाल (चैतन्य महाप्रभु), कर्नाटक (पुरन्दरदास, कनकदास), मालवा और निमाड़ (संत सिंगा, दुलूदास आदि), एवं अन्य प्रान्तों में संतों का प्रभाव तीव्र गति से बढ़ा जिसे हम समग्र रूप से एक वैचारिक क्रान्ति के रूप में मान सकते हैं। लोक भाषाओं में विचारों की अभिव्यक्ति पाकर धार्मिक भावों ने बिजली की तरह एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में दौड़ लगायी। १६ वीं शताब्दी तक मध्यकालीन संस्कृति विकास की चरम स्थिति पर पहुंच चुकी थी। इसकी भूमिका ११ वीं शताब्दी से ी बन गई थी। भाषा-विज्ञान के अध्येताओं का विश्वास है कि १२ वीं शताब्दी में प्रान्तीय भाषाएं अपने मूर्तरूप में आ गई थीं। यही समय संतकाव्य की उक्त दो धाराओं को स्पष्ट करने में योगदायी सिद्ध होता है। इस काल की सामाजिक और राजनैतिक अवस्था की पृष्ठभूमि में संतों का लोकग्राही स्वरूप अधिक सुलझा हुआ दृष्टिगोचर होता है। ब्राह्मणों और पुरोहितों के कुप्रभाव ने

----

१. मैथिली लोकगीत, पृ० १४७, १४९, १५२, १५५, १६१–६२।

अनेक संवेदनशील व्यक्तियों को विद्रोह के लिये प्रेरित किया। निम्न वर्ग से संतों की जो बाढ़ आयी उसका कारण भी यही संघर्ष था। इन संतों में कई संत पहुंचे हुए सिद्ध हुए। कबीर, दादू, धन्ना, रैदास, पीपा, रज्जब, मलूकदास आदि कवियों की छाप वाले गीत लोक भाषाओं में सहज ही प्राप्य हैं। यद्यपि वे उनकी रचना न होकर भी, जैसा कि ऊपर बताया गया है, परवर्ती संत कवियों द्वारा उन्हीं की छाप से अभिज्ञापित किये गये हैं और प्रायः किये जाते हैं। इस प्रवृत्ति में "साक्षी" की बात तो है ही, पर उन संतों के प्रति प्रगाढ़ आस्था भी विद्यमान है। अन्यान्य संतों की छाप वाले गीतों की भी कमी नहीं है। राजस्थान और मालवा के ऐसे संतों का उल्लेख किया जा सकता है, जिनकी रचनाओं में रहस्यवादिता निहित है। उनमें परिवर्तन कम हुआ है। इसका कारण राहुलजी ने यही बताया है कि उनका संबंध किसी न किसी सम्प्रदाय या मजहब से होता है।[1] लोक साहित्य के वस्तुवादी अंग के प्रति उनका कहना है कि "उसमें अपार रस और अपार उद्बोधन शक्ति है, लेकिन अलिखित और बराबर रूप परिवर्तित करने वाला होने से उसके नमूने आसन्न वर्तमान के ही मिल सकते हैं।"[2]

"प्राचीन काल से वस्तुवादी और रहस्यवादी काव्य हमारी लोकसाहित्य की परम्परा में निर्मित होते आये हैं।" पर चूंकि संत काव्य में रहस्यवादी धारा का इतिहास सुदूर अतीत के प्रमुख सम्प्रदायों से जुड़ा हुआ है इसलिये वस्तुवादी काव्य में भी इतिहास की इस सजीव कड़ी की झनकार अनायास गूँज उठती है। कहीं कहीं दोनों सगुण और निर्गुण धाराओं के मिले-जुले रूप में उपलब्ध हैं। विशेष रूप से लोक प्रचलित संत काव्य में ऐसी भ्रांतियां विद्यमान है। मौखिक परम्परा की सामग्री होने के कारण लोक-परक संत-काव्य अलग से अध्ययन का विषय है। इस काव्य पर कबीर के पूर्ववर्ती सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों का प्रभाव सम्मिलित है। यह प्रभाव सिद्धों से आरम्भ हुआ और सहज-शून्य के फेर में पड़ता हुआ, नाथ पंथी वाणी को गहरी आस्था के साथ समेटते हुए तथा कतिपय खरी मान्यताओं को स्वीकार करते हुए, गतिमान हुआ। इस तरह शैव-मत, पाशुमत, नाथ सम्प्रदाय, सूफीमत, रसेश्वरी मत, सरभंग मत, दादू पंथ, दरिया पंथ, वारकरी तथा माहानुभाव पंथ, मांभी मत आदि सम्प्रदाय अथवा पंथ लोकपरक सन्त-काव्य अथवा लोकगीत वर्ग के संत-साहित्य में अपना सम्मिलित प्रभाव रखते हैं। 'भक्त माल' में ऐसे सम्प्रदायों के अनेक संतों का जो भिन्न-भिन्न कुलों और प्रान्तों में उत्पन्न हुए थे, बड़ी श्रद्धा के साथ उल्लेख किया गया है, फिर भी यह सत्य है कि लोकपरक काव्य के संग्रह करने पर अनेक अज्ञातनामा संतों और सम्प्रदायों का पता चलता है।

लोकपरक संत-साहित्य की इस चर्चा के सन्दर्भ में यहां कुछ ऐसे गीतों पर विचार किया जाना प्रासंगिक होगा जो अपरोक्षरूप से संतों की वाणी से प्रभावित होकर अपने स्वाभाविक सौन्दर्य से भरपूर हैं। ऐसे गीतों का संकलन भारतीय ग्रामों में किया जा सकता है। घुमन्तु नाथ

---

१. संत दर्शन की भूमिका, पृष्ठ १।

२. वही

जोगियों, निम्न समझी जाने वाली जातियों, रामदेव के उपासकों और चिकार लेकर गाने वालों के पास इस तरह की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है।

नर्मदा उपत्यका और उससे जुड़े हुए मालव प्रदेश के लोकजीवन में मृत्यु एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है। संतों की रहस्योन्मुखी प्रवृत्तियों और वाणियों ने लोकजीवन को दूर तक प्रभावित किया है। मृत्यु जीवन से मुक्ति है। केवल भौतिक शरीर का विनष्ट हो जाना ही मरण नहीं, अपितु मृत्यु होने पर भी आध्यात्मिक रूप से जीवन की स्थिति अपने परब्रह्म के हेतु बनी रहती है। गोरखनाथ, कबीर एवं अन्य संतों के भावों की अनुरूपता लिये हुए नर्मदा उपत्यका के कतिपय मृत्युगीतों में गहरी अनुभूति आबद्ध हैं। उनमें जीवन की स्थिति परमतत्व के प्रति गहराई से स्वीकार की गई हैं।

नामदीय एवं मालवीय जीवन के कुछ भागों में संकेतों और रूपकों के माध्यम से मृत्यु को लोककवियों ने आध्यात्मिक सौन्दर्य प्रदान किया है। कबीर की दुलहनिया की भांति आत्मा रूपी नारी परब्रह्म रूप प्रियतम से भेंट करने के लिये अपने नैहर के समस्त बन्धनों को छोड़कर जा रही है। "परिब्रह्म" का आमंत्रण (आणा) आया है। उसने अपनी संगिनी सखियों के साथ स्नान किया, केश संवारे और उनमें मोतियों से मांग भरी। चंपा, चमेली और मोगरे के सुवासित गजरों से शृंगार कर उसने अनुपम चोली भी धारण की है।

"आणो"

आणो[1] आयो रे परिब्रह्म को
अरे सासरिया को जाणो-
आणो आयो रे परिब्रह्म को।
चालो म्हारी साँत की सई होण[2]
अरे अपण न्हावण[3] जावां
अरे वेगा[4] मंदर[5] सिधाराँ
आणो आयो रे परिब्रह्म को।
चालो म्हारी सांत की सईं होण
अरे अपण माथो[6] गुथावाँ[7]
कई गूँथ्यो ओर कई गूंथणो
अरे मोत्या मांग पुरावाँ
आणो आयो रे परिब्रह्म को।

---

१. बुलावा आमंत्रण। २. साथ की सखियाँ। ३. स्नान के लिए। ४. शीघ्र। ५. मंदिर। ६. शीश। ७. केश संवारे।

चालो म्हारी सात की सई होण
अरे खासी बाग लगाई[१]
चंपा चमेली दोई मोगरा
अरे खासो गजरो बणाये
आणो आयो रे परिब्रह्म को।

चालो म्हारी सात की सई होंण
अरे खासी चोली सिवाड़ी[२]
कई रे सीव्या ने कई सीवणो
अरे देवा अंग लगाई
आणो आयो रे परिब्रह्म को।

आत्मा और परमात्मा के अद्वैत का यह रूप कबीर और उनकी तरह अक्खड़ संतों की वाणी से भी निःसृत हुआ है। कबीर ने अनेक पदों में दूल्हे-दुलहन का रूपक उपस्थित किया है।

मृत्यु एक अत्यन्त अनोखा, रोमांचकारी, आध्यात्मिक, वियोगात्मक और कारुणिक प्रसंग है। अनुभव के भिन्न-भिन्न स्तरों पर उसकी भिन्न-भिन्न व्याख्याएं स्वीकार की गई हैं। संतों ने मृत्यु को प्रियतम रूपी परमात्मा के नैकट्य का कारण मानकर सांसारिक तृष्णाओं में लिप्त मानव के लिए मुक्ति का सूचक माना है। निमाड़ के अधिकांश मृत्यु-गीतों में प्राप्त संतों की परम्परा से प्रचलित गीत-बद्ध धारणाएं यह सिद्ध करती हैं कि अन्त समय जीवन की निस्सारता को व्यक्त करने के लिये समाज ने उन्हें भावावेश में ही ग्रहण किया है। ऐसी लोक प्रचलित रचनाएं संतों के लोकोन्मुखी साहित्य की द्योतक हैं, और अलग से अपना अस्तित्व सहेजे हुए अनेक लुप्त सम्प्रदायों और प्रभावों का पता देती हैं।

१५ वीं शताब्दी के पश्चात भक्ति के जो रूप भारतवर्ष में फैले उनमें निर्गुणी धारा का संत-काव्य बहुत कुछ बच गया। निम्न वर्ग के ग्रामीण एवं कृषि जातियों को इसका श्रेय प्राप्त है। भक्ति की लहर और निर्गुण-निराकार की वाणी एक दूसरे को प्रभावित करते हुए इस तरह प्रसरित हुई कि उनमें निमाड़, मालवा, और राजस्थान वंचित नहीं रह सके। नामदेव, कबीर, मनरंग, सिंगा, दलूभगत, धरमा, सेना आदि '''संतों'' के पावन शब्दों ने निमाड़ और मालवा को अनुरंजित कर दिया। निमाड़ के घर-घर में आज भी संत सिंगा के भजन और गीत गाये जाते हैं। सिंगा अपने गुरु मनरंग (मनरंगीर) से भी अधिक जाना-पहचाना व्यक्तित्व है। सिंगा के कथानकों

---

१. गोरखनाथ जी के एक सबदी में इस प्रकार के भाव व्यक्त हुए हैं कि ब्रह्मा ने प्रत्येक तनरूप बाग (क्यारी) को लगाया है, इसलिए प्रत्येक के हृदय में परमात्मा बीज रूप में है--"घटि घटि गोरख बाही क्यारी" (गोरखवाणी, पृ० १४)

२. सिलाई

पर मरने वाले मेलों में सिंगा के भक्त प्रति वर्ष निर्गुण गीतों की स्रोतस्विनी बहाकर जन जीवन के पर्याप्त निकट पहुंच गये हैं। सिंगा के गुरु मनरंग के गीतों को लोग मृत्यु के गीतों की श्रेणी में सम्मिलित कर अनजाने ही गाते रहते हैं। उनका एक गीत जिसे "हालरौ" कहते हैं, बहुत प्रसिद्ध है। 'हालरौ' वस्तुतः लोरी को कहते हैं। लोरी की भांति ही प्रशान्त लय में प्रस्तुत गीत गाया जाता है :–

सोहं[1] बालो हालरो
अरे जाकी निरमल जोत
सोहं बालो हालरो—०
कि सबद घात को पालनो
अरे पाट्या तीन सौ साठ
ऐसा खील जड़ाव की जाये ठड़ियो ठाट
सोहं बोलो हालरो—०
आगासी[2] झुलबाला बांधियो
अरे लागी तिरवेणी डोर
अरे जुगत से झूला चलाविया
हेच्या "मनरंग" मोर

सोहं बोलो हालरो—०
नहिं रे बालूड़ा[3] या सोवती नहिं जागतो
अरे नहि जाया रे दूध
सदा रे शिव जाकी संग म
अरे खेले बाजारूण[4] को पूत[5]

सोहं बोलो हालरो—०
अणहद घुंघरू बाजिया
आज मांग्या छ मेव
अरे सुरता करो हो विचार
अष्ठ कमल जिया दल चढ्या
लागा सांकल डोर
सोहं बोलो हालरो—०

---

१. मैं वही हूं। २. आसमान। ३. बालक। ४. बांझ। ५. पुत्र।

नद्दी सुक्ता[1] का घाट प
अरे बठ्या ध्यान लगाय
आवत देख्या हो पिंजरा
अरे लिया गोद उठाय
सोहं बोलो हालरो—०

इस गीत के संबंध में एक किंवदंती प्रचलित है। एक बार मनरंग सुक्ता नदी के तट पर ध्यान में बैठे थे कि उन्हें नदी में बालक का एक शव बहता हुआ दिखाई दिया। शव को नदी से निकाल कर उन्होंने जब उक्त लोरी गायी तो बालक के तन में क्रमशः प्राणों का स्पन्दन होना आरंभ हुआ और वह जीवित हो गया। पुनः प्राण-प्रतिष्ठा का क्षीण विश्वास उक्त गीत से निबद्ध है। चार शताब्दियों की लम्बी श्रृंखला में बंधा हुआ, पर कंठों पर स्थित, मनरंग महाराज का यह गीत तत्कालीन निमाड़ी संतकाव्य के स्वरूप का वाहक है।

निर्गुण धारा के काव्य-साहित्य में प्रयुक्त सांकेतिक शब्द, रूपक ज्यों के त्यों हमें यहां गीत में प्राप्त हैं, यद्यपि सभी गायक उनके गूढार्थ से परिचित नहीं है। सोहं, सबद, तिरवेणी, बालूडा (आत्मा), अणहद घुंघरू, सुरता, अष्ठ कमल, आदि ऐसे ही सांकेतिक शब्द हैं। नाथ सम्प्रदाय का विश्वास है कि शरीर रूपी नगर का गढ़ ३६० हड्डियों रूपी प्रस्तर खण्डों से बना है, जिसमें प्रवेश पाने के लिए १६ खाइयों को पार करना आवश्यक है। ये खाइयां तन के १६ आधार है ——

"तीनि से साठि चोरागढ़ रचिले सोलह पगि से वाहिं"——गोरखवाणी पृ० १२०

इस विश्वास की छाप उक्त गीत की इस पंक्ति——"सबद घात को पालणों, अरे पाट्या तिन के साठ" में व्यक्त हुई है।

नर्मदा उपत्यका में संतों का प्रभाव अधिक रहा है। वहां के जन जीवन ने निकट से संतवाणी को ग्रहण किया है। यही कारण है कि जो "स्प्रिट" मृत्युगीतों में मिलती है वह संत साहित्य के मूल विचारों से संयुक्त है। मृत्यु के गीत यद्यपि प्रत्येक प्रान्त में गाये जाते हैं, पर निमाड़ में उनका आध्यात्मिक स्वरूप उपलब्ध है। मृत्यु के अतिरिक्त "जीवन की निस्सारता" का गहरा संकेत लोक को प्रभावित करने के लिए सहज ही आ मिला है। संत-काव्य की परम्परागत भावनाएं संत कवियों द्वारा प्रसारित होकर काल के थपेड़ों से टकराती हुई भाषा की दृष्टि से आहत होकर भी भावों की दृष्टि से रक्षित होकर इन गीतों में अवशिष्ट हैं। कुछ गीत देखिये ——

थ्हारो जलम[2] न दूजी बार
ओ म्हारी प्रेम सुहागन अन्तरी

----

१. खंडवा (मध्यप्रदेश) से ९ मील दूर सुक्ता नदी है। २. जन्म।

काया ओ कलस कुमार को
कई घड़िया ने मुड़ी-मुड़ी जाय
अरे कई रे भरोसो इनी माटी को
ऐसी फोकट[1] फेरा खाय --म्हारो०
अरे ससरो[2] संवांगी[3] ओ संग भयो
पांची देवर म्हारी लार[4]
घट म बसे ओ नन्दल मोहेली[5]
ते कारण छोड़्यो भरतार--म्हारो०
अरे प्राण गयो ओ काया तू न गयो
तू छे निपट गिंवार
अरे भट रे मुंडी म्हारा गुण नहिं--म्हारो०

ओ मेरी प्रेम सुहागन अन्तरी (आत्मा) तेरा दूसरी बार जन्म नहीं होता। यह काया रूपी कलश (जिसमें तेरा वास है) ईश्वर रूपी कुंभार द्वारा निर्मित किया गया है जो बार-बार नष्ट हो जाता है। इस मिट्टी का क्या भरोसा, जिसका इस प्रकार व्यर्थ में आवागमन होता है। ढोंगी श्वसुर (संसार) से तेरा संग हुआ है और पांच देवर (काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर) तेरे साथ लग गये हैं। तेरे इस घट (कलश) में माया रूपी नन्दल आ बसी है जिसके कारण तूने अपने परमात्मा रूपी प्रियतम को छोड़ रखा है।

हे तन, प्राण, जाने के पश्चात भी तू नहीं गया, तू बिलकुल गंवार है।.....

उक्त गीत की अन्तिम पंक्तियाँ कबीर की छाप से समाप्त हुई। यह प्रवृत्ति कबीर के व्यापक प्रभाव को प्रगट करती है। इससे भक्त अपने अनुभव की पुष्टि करता है। स्वयं कबीर के कई ऐसे पद हैं जिनमें जीवन से नाता टूटते समय का रहस्यमय वातावरण हृदय में आध्यात्मिक पीड़ा को उत्कर्ष प्रदान करता है। "नेहर से जियड़ा फाटा रे। नेहर नगरी जिसकी बिगड़ी उसका क्या घर बाटा रे," अथवा "रहना नहीं देश बिराना रे। यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना रे–" आदि में वही स्वर है जो मृत्यु गीतों में उपलब्ध है। कबीर की छाप वाला एक गीत और है जिसमें जीवन और काया की निस्सारता प्रगट की गई है।

----

१. मुफ्त, व्यर्थ।

२. गोरखनाथ ने सास के साथ ससुर का वास नाभि में माना है क्योंकि नाभि में कुंडलिनी का निवास है। यही शक्ति है। इसके द्वारा सृष्टि का सृजन हुआ है। इसलिये वहां ब्रह्मा और सावित्री का निवास भी है। इन्हें ही सास ससुर कहते हैं जो स्थूल माया को जन्म देने वाला है।

३. स्वांगी (ढोंगी), ४. साथ। ५. मोहिनी।

नुगरी[1] ओ त्हारा कई जस गाऊं
महल वण्यो जिवड़ा रेहण पायो रे
पेरत अंग संवारत पागा[2]
संवारत पागा रे--
एक दन मास बटैगौ त्हारो कागा रे
काथो सुपारी न चावत बिड़िया[3]
चाबत बिड़िया[4] रे
एक दिन मुख न जायगी किड़िया[5] रे
पानी का बुन्द स यो पिन्डा पालयो
यो पिन्डा पालयो रे
एक दन या जंगल बिच राल्यो रे
कहत कबीर सुणो मन म्हारा
एक दन हाल बेहाल हुई जायग त्हारो रे

नर्मदा उपत्यका का वह क्षेत्र, जिसे निमाड़ कहा जाता है, वास्तव में मृत्यु के इन गीतों के लिए उल्लेखनीय है। परम्परा से गीत चले आ रहे हैं। युवकों अथवा युवतियों की मृत्यु पर इन्हें नहीं गाया जाता। केवल वयप्राप्त पुरुषों अथवा स्त्रियों के मरण पर इन्हें शव के साथ सामूहिक रूप से मृदंग की थापों के साथ गाया जाता है। स्मशान में शव को दाह करने के पूर्व तक गीतों का क्रम चलता रहता है। संदेह नहीं कि परिवार के पुरुषों को अपने प्रियजन का वियोग दुखी करता है, पर गीत के इस आयोजन में उन्हें आध्यात्मिक परितोष भी प्राप्त होता है।

मृत्यु के ये गीत "मसाण्या गीत" कहलाते हैं। कुछ गीत इनमें ऐसे भी हैं जिनमें लोककवियों की छाप है। धरमादास और सयना भगत के कितने ही गीत प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ निम्न गीत प्रस्तुत हैं:—

(१)

म्हारा हंसा रे
लोभी जिवड़ा रे
काया री वाड़ी[6] मेली[7] मती जाजो
हंसा तू रे अपुण दोई जणा
अब हंस अकेला क्यों जाया रे--
हंसा तू रे अपुण पिया दूध रे
अब जाता पियो तम नीर रे

---

१. व्यर्थ। २. पगड़ी। ३. पान की बीड़ियां, ४. चिउंटियां। ५. दुर्गत होना। ६. बगीचा। ७. त्यागना।

हंसा माय-बाप सेव्या[१] दोई जणा
अब माय-बाप छोड़ी क्यों जाता रे--
हंसा यही रे बिनती घरमादास की
तम राखो चरणाधार

(२) यो जीव पावणों[२] रे, राख्या से नी रेवे
सुगणा-सायब[३] म्हन मेली नक जाय रे
बागो सिवाडूं त्हारा जरकसी[४]
माथे कसूमल पाग
भरी सभा में जाई बठो रे
असा गावत छत्तीस राग--सुगणा।।
खांड सुवाड़ी गुड़ लापसी
घेवर रे करूं पकवान
घीऊं तपऊं अकारा[५]
ओर खारा परसूं अचार--सुगणा।।
ऊंची अटारी मालिया रे फूलां चुनी सेज
झूला झुलाऊं ने पंखा डोलूं वीर
बार बार त्हारी बिनती करूं रे
म्हाके संग लई चाल
दासधरमी की या बिनती
रखजो चरणा लगाय--सुगणा।।

मानव-काया की निस्सारता का रूपक इस "चुनड़ी" नामक गीत में देखिये :—

नव महिना म हुई तय्यार रे
चुनड़ी बड़ी अनमोल रे
पीयर म पेरी ओढ़ी मगन रही मन म
रह्यो माया को नशो म्हारा मन म।।
माया म भूली गई सासरा को ध्यान रे
आणु लेखाख[६] आया 'मिजवान[७]' रे।।
न्हाई धोई ने करी तय्यार रे
म्हारा लाकड़ा की घोड़ी ऊबी आंगण--चुनड़ी०

---

१. सेवा की। २. अतिथि। ३. अच्छे गुणों वाला प्रियतम। ४. जरी का। ५. सुवासित। ६. लेने के लिये। ७. प्रियतम।

चार बराती लई न चल्या
खूब कर्‌यो वो मिलाप रे।
पाछ सी रड़[1] पियर का लोग रे
लीजो सोवग[2] चुनड़ी ओढ़ी रे।।

मालवा के दक्षिण सीमावर्ती भागों में नर्मदा, तीर्थ की भांति पूज्या और पतितपावनी है। रेवा के प्रवाह में मुक्ति की कामना से कितने ही शरीरों की भस्म युगों से प्रभावित होती आ रही है। मांधाता के अंक में ओंकारेश्वर की ओर असंख्य यात्रियों का जाना रेवा के प्रति उनकी उत्कट आस्था का प्रमाण है। इसलिए गीतों में मन का मांधाता की ओर बार-बार दौड़ना अस्वाभाविक नहीं। सयना भगत का निम्न गीत दृष्टव्य है :--

मन रे मान्धाता बिच जई रह्या,
माया जाण न देवे।
पचमड़ी पंडव बसे
पांची करे असनान
छत्तिस मुरत जां रमी रह्या
वोका अम्मर नाम।।
आसीवड़ जीव जाणजो
वाकी सित्तल छाया।
जां रे मादेव तप प बठ्या
ओकी अरण्या बुझाई।
गड़ प हाथी जोतिया
गड़ प माड़्यो छ रोल[3]
अबीरे कुकूं ह्यांसो निसर्‌या
गड़ प हुई चगा बोल[4]।।
रेवा कवरे[5] व्यंऊ झरमले
जिन घर कपला हो गाय।
गऊ मुख अमरित वां झरे
झरे गंगा माय।।
अणहद वाजा वाजिया
सतगरू दरबार।

---

१. रोना। २. सौत। ३. रोना। ४. चहल-पहल। ५. किनारे।

सयना भगत त्हारी बिनती
राखो सरण लगाय॥

सयना की छाप वाले और भी लोकगीत हैं जिनमें स्पष्ट ही गोरख के पदों का प्रभाव है। सयना के गीतों में सांकेतिक योजना अधिक स्पष्ट है।

इस तरह की रचनाएं लोकगीत होकर भी पूर्ववर्ती संत परंपरा की मान्यताएं अपने में समाये हुए है। संत-काव्य की लोकोन्मुखी धारा के वे संत, जो अभी तक लिपि के बंधन में नहीं बंधे, लुप्त धार्मिक परंपराओं और सम्प्रदायों के उत्थान में सहायक हो सकते हैं। प्रायः ऐसे संत निम्न वर्ग से आये थे। उन्होंने अपने जीवन की खुली पुस्तक का एक-एक पृष्ठ पढ़ा तथा अपने पूर्वजों से सिद्ध और नाथों की उन उक्तियों को ग्रहण किया जो उनके लिए सहज हो गई।

नर्मदा उपत्यका के मृत्यु गीतों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोकजीवन में अभी भी मृत्यु साधारण विषय नहीं है। भौतिक शरीर भले ही नष्ट हो जाये पर उसके द्वारा आत्मा का परमात्मा से मिलन होता है। संत साहित्य से संबंधित विभिन्न सम्प्रदायों ने इन गीतों में अपनी कड़ियां समय-समय पर मिलाई हैं। यद्यपि मृत्यु का आध्यात्मिक सौन्दर्य साधारण मनुष्य के लिये (रागों से ऊपर उठकर) जानना कठिन है, फिर भी जीवन की निस्सारता के साथ मुक्ति की भावना का स्मरण बराबर इनमें दिलाया जाता है। गोरख ने इसीलिये मरना मीठा बतलाया है—

"मरो वे जोगी मरो, मरण है मीठा" (गोरखवाणी, पृ० १०) यह मरना साधारण मृत्यु नहीं है। इसमें जीवन मुक्त होता है।

डाक्टर कैलाशचन्द्र भाटिया

अँग्रेजी के आगत शब्दों का अर्थ-परिवर्तन

एक भाषा से दूसरी भाषा में सामान्यतः शब्द बिना अर्थ-परिवर्तन[1] के गृहीत होते हैं किन्तु कभी-कभी उनमें अन्तर भी हो जाता है। एक ही शब्द विभिन्न वातावरण एवं स्थानों पर भिन्न-भिन्न अर्थ प्रकट करता है। उदाहरणार्थ 'ग्लास' अपने तत्सम रूप में कांच का ही द्योतक है पर उसका तद्भव रूप 'गिलास' पानी पीने के पात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है। आगत शब्द गृहीत रूप में स्थानीय संस्कृति से प्रभावित होकर नवीन अर्थ ग्रहण कर लेता है।[2] प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री ब्रील के अनुसार सामान्यतः अर्थ-परिवर्तन तीन दिशाओं में होता है।

अर्थ-संकोच--प्रायः जब शब्द जन्म लेते हैं तो उनमें एक बड़ी शक्ति होती है। उनका अर्थ भी अधिक सामान्य तथा व्यापक होता है। एक ही व्यापक अर्थ में प्रयुक्त होने वाला शब्द दुनिया के व्यापारों में पड़कर और भी संकुचित होजाता है। सभ्यता के विकास के साथ-साथ शब्दों के अर्थ में भी संकीर्णता आती जाती है। एक भाषा से एक शब्द जब दूसरी भाषा में प्रवेश करता है तो उससे सभी दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन सम्भव है किन्तु संकोच की दिशा सबसे अधिक विस्तीर्ण है। यही कारण प्रतीत होता है कि भाषा-शास्त्री ब्लूमफील्ड ने अर्थ-परिवर्तनों के नियमों में इसको प्राथमिकता दी है। सभी शब्दों में अर्थ-संकोच निश्चित अवस्था में ही नहीं होता है। उसमें भी विभिन्न कोटियाँ स्थापित की जा सकती हैं।

अर्थ का बहुत अधिक सीमित हो जाना---इस कोटि में वे शब्द आते हैं जो अपने किसी विस्तृत भाव को छोड़कर किसी निश्चित तथा सीमित अर्थ में रूढ़िगत हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'स्टेशन' लिया जा सकता है। इसका यह अर्थ कि कोई चीज़ कहीं आकर ठहरे जो गृहीत न होकर केवल 'रेलवे स्टेशन' के रूप में अर्थ सीमित कर लिया गया। दोनों भाषाओं में अर्थ-व्यापकता का रेखाचित्र हम इस प्रकार दे सकते हैं:--

---

१. अर्थ-परिवर्तन के इस प्रबन्धांश को विधिवत् तैयार करने तथा वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करने में प्रसिद्ध भाषा-शास्त्री तथा अर्थ-विज्ञानवेत्ता डा० हरदेव बाहरी की विशेष सहायता ली गई है।

२. नीडा, ई० ए०--गोड्ज़ वर्ड्ज़ इन मैन्ज़ लैंग्वेज तथा तारापुरवाला--साइन्स ऑव लैंग्वेज, पृष्ठ ८१-८२

अंग्रेजी में 'स्टेशन' शब्द
का अर्थ

हिन्दी में 'स्टेशन' शब्द
का अर्थ

इसी कोटि में 'कांग्रेस', लीग', 'मोटर', 'साइकिल' आदि शब्द लिये जा सकते हैं।

कांग्रेस--अंग्रेजी में इसका अर्थ है सम्मिलित होना, मिलन, विचार-विमर्श की औपचारिक बैठक।[1]

सन् १८८५ में सर्वप्रथम राजनीतिक व्यय से कुछ व्यक्तियों की बैठक हुई। व्यक्तियों का यही सम्मिलन संख्या के रूप में प्रचलित हो गया। इस प्रकार आज कांग्रेस 'राष्ट्रीय महासभा' के लिए रूढ़ हो गया, जिसको देश का बच्चा-बच्चा जानता है।

लीग--सामान्य हित की सहायता और रक्षा के लिए आपसी संगठन।[2] हिन्दी शब्द सागर[3] में इसके दो अर्थ दिये हैं:--

१. विशिष्ट दलों का किसी उद्देश्य से सम्मिलन।

२. बहुत बड़ी संस्था।

जिस प्रकार कांग्रेस का प्रयोग सामान्य से विशेष के अर्थ में बदलकर एक संस्था विशेष का द्योतक हो गया, उसी प्रकार 'लीग' भी एक संस्था विशेष के अर्थ में सीमित हो गई। लीग से तात्पर्य 'मुस्लिम लीग' से लिया जाता है तथा इस संस्था से संबंधित व्यक्तियों को 'लीगी' कहा जाने लगा।

मोटर--वह जो गति प्रदान करे। गाड़ी के लिए शक्ति देने वाली मशीन। अब सामान्यतः मोटर कहने से मोटर चालित 'कार' अथवा 'लारी' का ज्ञान होता है।

साइकिल--अंग्रेजी में इसका अर्थ है—आवर्तनीय समय। किसी भी चक्र के अर्थ में प्रयुक्त यह शब्द आज भी 'बाइसिकिल' के लिए प्रयुक्त होने लगा।

अर्थ-संकोच विभिन्न क्षेत्रों में--इस कोटि में वह शब्द आते हैं जो किसी एक भाव को छोड़कर भिन्न अर्थ प्रकट करने लगते हैं। उदाहरणार्थ 'मशीन' शब्द लिया जा सकता है। 'मशीन' का जो सामान्य अर्थ है वह अपने भिन्न-भिन्न क्षेत्र में बहुप्रयुक्त मशीन के रूप में सीमित होगया; किसी टाइप की दूकान पर 'मशीन' मात्र से अर्थ टाइप-राइटर का लिया जाता है। घरों में इसका अर्थ केवल बहुप्रयुक्त 'कपड़ा सीने की मशीन' के रूप में लिया जाता है। माइक्रोनेशियन भाषा[4] में भी

---

१. आक्सफोर्ड कन्साइज डिक्शनरी, सन् १९४२, पृष्ठ २३८।

२. वही, पृष्ठ ६४६।

३. हिन्दी शब्दसागर, सं० २००८, पृष्ठ १०३५।

४. इंग्लिश लोन वर्ड्ज इन माइक्रोनेशियन लैंग्वेज--लैंग्वेज, भाग २१, पृ० २१४।

'मशीन' का अर्थ कपड़ा सीनेवाली मशीन के अर्थ में संकुचित हो गया है। 'मशीन' का रेखाचित्र इस प्रकार दिया जा सकता है —

अंग्रेजी में 'मशीन' शब्द की अर्थ-व्यापकता

हिन्दी में 'मशीन' शब्द के सीमित क्षेत्र

स्कूल—स्कूल का यह अर्थ कि 'कोई ऐसा स्थान जहाँ ज्ञान-विज्ञान की बात सीखी जा सके' हिन्दी में गृहीत न हो सका। स्कूल का मूल अर्थ जहाँ अपने मूल रूप में कुछ शिष्टों के प्रयोग में सीमित रहा वहाँ जनसाधारण में इसका अर्थ प्राइमरी, मिडिल तथा हाई स्कूल की शिक्षा प्रदान करने वाली संस्था ही लिया जाता है।

संकोच की तीसरी अवस्था—इस कोटि के शब्द अपने मूल अर्थ को त्याग कर किसी विशिष्ट पदार्थ का अर्थ देने लगते हैं और अर्थ काफी संकुचित हो जाता है। उदाहरणार्थ 'गैस' शब्द को लिया जा सकता है।

गैस—यह एक रासायनिक पद्धति से निर्मित वायुरूप है जो अनेक प्रकार से काम में लाथी जाती है। इसके द्वारा प्रकाश करने की भी व्यवस्था की गई और ऐसी व्यवस्था को गैस-लाइट, गैस का हंडा कहा गया। 'गैस' जल रही है का तात्पर्य है कि गैस द्वारा संचालित किसी यंत्र से प्रकाश किया जा रहा है।

अंग्रेजी में गैस

हिन्दी में गैस

तिजोरी—इसका अंग्रेजी शब्द है 'ट्रेज़री' जिसका अर्थ है=वह स्थान या मकान जहाँ कोश रखा जाता है। स्थान विशेष से इसका अर्थ लोहे या संदूक या छोटी अलमारी के रूप में जिसमें रुपये आदि रक्खे जाते हैं, संकुचित हो गया।

संकोच की चौथी अवस्था—इस कोटि में वे शब्द आते हैं जिनमें प्रथमतः तो विकास दृष्टिगत होता है पर कालान्तर में वही अर्थ किसी निश्चित सीमा में संकुचित हो जाता है। साथ ही साथ शब्द का मूल अर्थ भी शिष्ट समाज में चलता रहता है। उदाहरणार्थ 'गिलास' ले सकते हैं।

गिलास—अंग्रेजी में यह काँच का पर्यायवाची है। हम इसका प्रयोग शीशे से बने हुए एक विशेष प्रकार के पात्र के लिए भी करने लगे जो पानी पीनेके काम में आता है। अब शीशे के स्थान पर अन्य धातु से बने हुए पात्र को भी गिलास कहा जाता है। इस शब्द में अर्थ-संकोच के बाद अर्थ-विस्तार भी है।

अँग्रेजी में गिलास : 'ग्लास'

हिन्दी में 'गिलास' :

अर्थ-संकोच की पाँचवीं अवस्था--इस कोटि में वे शब्द आते हैं जो अपने अर्थ को छोड़कर अपने ही क्षेत्र में किसी दूसरे अर्थ में संकुचित हो जाते हैं। उदाहरणार्थ 'रेल' शब्द लिया जा सकता है जो 'पटरी' के अर्थ को छोड़कर पटरी पर चलने वाली गाड़ी के अर्थ में संकुचित हो गया।

'रेल' शब्द की अर्थ-व्यापकता का रेखा-चित्र—

अँग्रेजी में

हिन्दी में

कंडील--रुई की बत्ती के चारों ओर लिपटी हुई मोम ही कैंडल है जिससे कृत्रिम प्रकाश की व्यवस्था की योजना की जाती है। अँग्रेजी शब्द 'कैंडल' का ही रूप 'कंदील' है इसका अर्थ हो गया 'मिट्टी, अबरक या कागज की बनी हुई लालटेन जिसका मुँह ऊपर होता है।'

मिसकोट--यह शब्द हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रमें गुप्त परामर्श या षड्यंत्र के अर्थ में प्रचलित है। इसका प्रचार तथा प्रयोग गाँवों में विशेषकर होता है। वस्तुतः अँग्रेजी के किस शब्द से यह संबंधित है, यह विवादास्पद है। इस शब्द के तीन स्रोत माने जा सकते हैं:—

अ—मिस-कोट=किसी बात को गलत करना।[1]

आ—मेस-कोट=गन्दी चीजों को फैलाना।[2]

इ—मेस-कोट=अं० मेस—हिं० कोट। घर।[3]

इतना निश्चित है कि इसका प्रथम भाग अँग्रेजी का है। मेरी दृष्टि में द्वितीय व्युत्पत्ति अधिक ठीक है।

सपरेटा—इसका मूल अँ० शब्द है, 'सैपरेटर'। इसका अर्थ है वह यन्त्र जिसके द्वारा

---

1. Mis-quote—quote wrongly—Oxford Concise Dictionary, १९४२ पृ० ७२८

2. Mess-quote--make a mess of dirty things, muddle (business)

3. Mess (house) becomes mescott in petitions being a mixture of English mess and Hindi kot (house). R. C. Temple, Some Corruptions of English from Port Blair, Indian Antiquary, Vol. XXX, पृष्ठ १६३.

दूध से मक्खन निकाल लिया जाता है। मक्खन निकले हुए दूध के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है।

विविध--

बैरंग--अँग्रेजी में इसका अर्थ है 'ले जाने का कार्य' : बियरिंग – bearing : bearin हिन्दी में इसका प्रयोग बिना महसूल, स्टांप आदि के लगे हुए पत्र आदि के लिए किया जाता है। इन पत्रों में एक विशेष प्रकार की मोहर लगा दी जाती है। बैरंग पत्र अर्थात् वह पत्र जो इस विशेष प्रकार की मोहर को लगाये हुए है। इस प्रकार के पत्रों की वापस लौट जाने की सम्भावना रहती है। यह तभी होता है जब पत्र का पाने वाला उचित पैसे नहीं देता है। इसी भाव को लेकर 'बैरंग लौटना' तथा 'बैरंग लौटाना' मुहावरे भी प्रचलित हो गये।

ऐन्ट्रेन्स--प्रवेश करना। यह शब्द दसवीं श्रेणी की परीक्षा के लिए सीमित हो गया।

अर्थ-विस्तार--अर्थ-संकोच की विपरीत अवस्था का नाम अर्थ-विस्तार है जिसमें विशेष से सामान्य की ओर प्रवृत्ति होती है। प्रथमतः किसी विशेष के अर्थ में प्रयुक्त शब्द धीरे-धीरे सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है। इस प्रकार के उदाहरण किसी एक ही भाषा में अधिक पाये जाते हैं, अन्य किसी भाषा से आये हुए शब्दों में ऐसा परिवर्तन कम होता है। फिर भी कुछ शब्द इस कोटि के हैं।

प्रथम अवस्था--इस कोटि में वे शब्द आते हैं जो अपने निश्चित क्षेत्र में ही प्रचलित रहते हैं पर साथ ही दूसरी दिशा में भी अर्थविस्तार करते हैं, उदाहरणार्थ हम 'बटन' शब्द को ले सकते हैं। 'बटन' अपने सामान्य अर्थ के अतिरिक्त बिजली के स्विच के मध्य भाग में उठे हुए भाग के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। जैसे बिजली की घंटी को बजाने के हेतु मध्य भाग में उठे हुए भाग के लिए इसका प्रयोग अँग्रेजी में भी होने लगा।

अर्थ-व्यापकता का रेखा-चित्र--

अँग्रेजी में 'बटन'

हिन्दी में 'बटन'

टिकट--अँग्रेजी में प्रयुक्त 'स्टाम्प' शब्द का व्यवहार केवल कचहरी तक ही सीमित रहा। पोस्ट आफिस के स्टाम्प शब्द का स्थान भी टिकट ने ही ले लिया। आज टिकट सभी क्षेत्रों में प्रयुक्त होता है। मैने स्वयं पोस्ट आफिस के क्लर्कों के मुँह से इसका व्यवहार होते हुए सुना है। बहुत से भारतीयों को विदेशों में इसके अशुद्ध व्यवहार पर काफ़ी लज्जित होना पड़ता है।

द्वितीय अवस्था--संसर्ग में आई हुई चीज़ के नाम से मूल शब्द का भी संकेत होने लगता है, ज्रो उसके साथ में आती है।

क्रिकिट[1]--घास के मैदान में क्रिकिट खेला जाता है। घास के एक विशेष ढंग के बोने मात्र को माली लोग क्रिकिट कहने लगे हैं।

चाप्स--'चाप्स' तथा 'चिप्स' आदि शब्दों में केवल सम्पादन की क्रिया को ही गृहीत किया गया है। इसके बनाने की क्या विधि है इसकी ओर ही ध्यान दिया गया और जो इन शब्दों का मूल भाव है उसको छोड़ दिया गया।

तृतीय अवस्था कापी--हिन्दी में यह शब्द उन पुस्तिकाओं के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें लिखने के लिए कोरे कागज लगे हुए हों[2]। वस्तुतः यह अँग्रेजी के कापी-बुक शब्द के प्रथम भाग कापी के ही अर्थ में अन्तर करके प्रयुक्त किया जाता है जिसमें विद्यार्थियों के लिए हूबहू नक़ल करने के हेतु पंक्तियाँ छपी रहती हैं। आज यह शब्द किसी भी सामान्य पुस्तिका के लिए लिया जाता है। इस भाव में अँग्रेजी भाषा में 'नोट-बुक' प्रचलित है। कापी का अन्य संज्ञाओं की तरह बहुवचन कापियाँ भी बना लेते हैं।

बैरा--प्रारम्भ में इस शब्द का प्रयोग उन व्यक्तियों के लिये हुआ जो पालकियाँ उठाया करते थे। आज इसका प्रयोग किसी भी साहब के चपरासी के अर्थ में किया जाने लगा है।

अर्थादेश--"अर्थ में इतना अधिक अन्तर हो जाय जिससे उसका मौलिक अर्थ बिल्कुल नष्ट हो जाय और बिल्कुल विपरीत अर्थ प्रचलित हो जाय" ऐसी अवस्था को प्राप्त शब्द इस कोटि में रक्खे जाते हैं। इस पद्धति में बहुत अधिक समय लगता है, अतएव इस प्रकार के उदाहरण पर्याप्त नहीं मिलते, उदाहरणार्थ हम एक शब्द ले सकते हैं।

लैस--हिन्दी में यह शब्द कपड़े पर चढ़ाने के लिए फीते के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं होता वरन् हथियारों और वर्दी से सजा हुआ अर्थ भी प्रकट करता है--कटिबद्ध, तैयार। फैलन महोदय ने भी इसका अर्थ ड्रेस-पोशाक लिखा है। इससे तैयार के अर्थ में प्रचलित मुहावरों का प्रचलन भी हुआ।

साधनों से लैस--प्रेमचन्द, कायाकल्प
लैस कर दिया--प्रेमचन्द, मानसरोवर भाग ३
सूट टाई से लैस--रामजीलाल, ऋण की ओट में
वैज्ञानिक शिक्षा से लैस--नरेश वेदी, हिन्दुस्तान ७ जून, १९५९

भेद का भेदीकरण--किसी विशेष भाव के द्योतक शब्द किसी व्यवस्थित क्रिया के द्वारा विचित्र अर्थों में कार्य करने लगते हैं और अलग से ही शब्द बन जाते हैं। इस क्रिया को भेदीकरण कहते हैं। भाषा ज्यों-ज्यों विकसित होती है, उसमें भी भेद-भाव बढ़ता जाता है। दो भिन्न-भिन्न सभ्यताओं के मिलने से एक भाषा में उनके पर्याय प्रचलित होते हुए भी दूसरी भाषा में गृहीत होते

---

१. डॉ० बाबूराम सक्सेना--अर्थ-विज्ञान, पटना विश्वविद्यालय, सन् १९५१, पृ० ९६
२. ना० प्र० सभा--संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, सं० २००८, पृ० २२५।

रहते हैं और फलस्वरूप यदि उनके पूर्व उस भाषा में पर्याय प्रचलित से हों तो भी कुछ समय अपना विशेष अर्थ रखने के कारण प्रचलित हुए बिना नहीं रहते ।

डाक्टर––पूर्व प्रचलित शब्द वैद्य, हकीम, कविराज के होते हुए भी अँग्रेजी विधि से चिकित्सा करने वाले तथा चीरफाड़ द्वारा इलाज करने वाले विशेष व्यक्ति को ही डाक्टर कहा जाता है। यही कारण है कि एक साधारण व्यक्ति भी डाक्टर और वैद्य के अन्तर को समझता है।

स्कूल––पाठशाला और मदरसा होते हुए भी अँग्रेजी ढंग से संचालित विद्यालय को स्कूल ही कहा जायगा।

अर्थापकर्ष––किसी भाषा का जब कोई शब्द बुरे भाव से संबंधित हो जाय तो वह शब्द इस कोटि में आयेगा। नादिरशाही, हिटलरशाही, हैलटशाही शब्द आज अत्याचार के लिए सीमित हो गये हैं। इसका प्रयोग किसी अच्छे कार्य करने वाले व्यक्ति के लिए कदापि नहीं किया जा सकता। अं० शब्द 'पालसन' और 'बटरिंग' का जो अच्छे भाव से बुरे अर्थ में परिवर्तन हुआ है वह किससे छिपा हुआ है।

मंगलभाषित––अशुभ-सूचक बातें बचा-बचाकर गोल-मोल शब्दों में प्रकट की जाती हैं। कुछ बातों का तो उच्चारण तक करना असभ्यता का सूचक समझा जाता है, इनमें प्रातःकाल की दैनिक क्रिया आती है। इसीलिये उसे दिसा, जंगल, टट्टी, पाखाना आदि विभिन्न शब्दों में प्रगट करते हैं। आज शिक्षित वर्ग में इसके लिये 'इंगलैंड' का प्रयोग भी किया जाता है। 'लन्दन' शब्द का प्रयोग भी इस अर्थ में मिलता है। 'बाथरूम' का प्रयोग स्नानागार के लिए ही नहीं होता वरन् पेशाबघर के लिए भी होने लगा है।

अंगांगी अंतरग––इस कोटि में वह शब्द आता है जिसका अर्थ प्रकट करने के लिए सम्पूर्ण के लिए एक भाग का ही प्रयोग किया जाय। लालकुर्ती, रेडशर्ट का प्रयोग इस कोटि का है। गान्धी टोपी जैसे कांग्रेसी होने का भाव प्रकट करती है उसी प्रकार 'रेडशर्ट' शब्द भी यह घोषित करता है कि यह अमुक संस्था का सदस्य है।

व्यंग्यार्थ––कुछ सुन्दर शब्दों का प्रयोग व्यंग्य में भी किया जाता है। ऐसा प्रयोग अधिकांशतः उन्हीं शब्दों को लेकर होता है जिनका प्रयोग बड़े लोगों के लिए अथवा महानता के अर्थ में होता है। दो व्यक्तियों के मध्य में जब कोई अपनी बात छांटने लगे तो कहा जाता है––बड़े आये हो जज बनकर। लाट साहब, गवर्नर, कलक्टर आदि शब्दों का प्रयोग व्यंग्य में बड़े बने हुए व्यक्ति के लिए होता है। नये ईसाई के लिए 'पादरी' साहब का प्रयोग सुना जाता है।

विशेषण से विशेष्य के अर्थ में––ब्लैक-बिलेक–युद्धकाल में कन्ट्रोल होने पर बेकायदे कन्ट्रोल की वस्तु क्रय करना ब्लैक कहलाता था। यह शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि अकेले ब्लैक से ही यह भाव प्रकट किया जाने लगा है। आजकल इस शब्द के अनेक मजेदार प्रयोग मिलते हैं, जैसे, बिलैक किया है, बिलैक का माल है, बिलैक के भाव मिलेगा, बिलैक से मैं ला सकता हूँ, बिलैक की कमाई खायी है।

डबल––डबल का अर्थ है 'दूना' लेकिन आज किसी भी मोटी चीज के लिये डबल शब्द

का प्रयोग किया जा सकता है। अँग्रेजी ढंग से सिकी हुई रोटी (ब्रेड) मोटी होने के कारण ही 'डबल रोटी' कहलायी। मोटे व्यक्ति के लिए डबल का प्रयोग सुना जाता है। दौड़कर तेज आने के लिए डबल मार्च का प्रयोग चल पड़ा जिसके स्थान में केवल 'डबल' शब्द का ही प्रयोग किया जाता है।

कंडम--हिन्दी में किसी भी बेकार, व्यर्थ वस्तु के लिए इसका प्रयोग किया जाता है जो बिल्कुल निम्नकोटि की हो। अँग्रेजी में इसका प्रयोग क्रिया रूप में होता है। हिन्दी में इसका प्रयोग विशेषण की तरह प्रारम्भ हुआ। आज तो बिना संज्ञा के प्रयोग के भी इसका प्रयोग होने लगा है। शब्द के अर्थ में इतना अन्तर नहीं हुआ है जितना उसके प्रयोग की विधि में। किसी भी खराब वस्तु के लिए कहा जायेगा 'क्या कंडम उठा लाये हो'।

अन्य रोचक परिवर्तन--लैनडोरी--इस सामासिक पद में प्रथम पद 'लैन' अँग्रेजी शब्द 'लाइन' का अपभ्रंश रूप है। इसका अर्थ है 'पंक्ति'। अँग्रेजी में इसके अन्य प्रयोग भी हैं। हिन्दी में प्रयोग होता है क्रमशः एक व्यक्ति के पीछे दूसरे व्यक्ति का चला आना, अधिक बच्चों के लिए भी, साहब लोग अथवा मिनिस्टरों के पीछे चलनेवालों की लम्बी कतार के लिए, उन रस्सों के अर्थ में जो कैम्पों के काम में आते हैं।

गड्ड्याम--यह अँग्रेजी का गोड डाउन यू (God down you) का ही संकुचित रूप है। इसका विशेषण रूप (–ई) प्रत्यय लगाकर गड्ड्यामी भी बनता है। फ़ैलन ने इसके दो रूप दिये हैं --

गड्ड्याम बोली - अँग्रेजी बोली।
गड्ड्याम जूती - अँग्रेजी जूती।

खण्डपीस--एक प्रकार का ब्लाउज़ का विशेष कपड़ा, जिसमें बाँह और गले की पट्टी एक ही सी रहती है।

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि अर्थ-परिवर्तन विभिन्न दिशाओं में सम्भव है। किस प्रकार कालान्तर में शब्द अपने भाव, अर्थ तथा रूप बदलते रहते हैं। यह एक बहुत ही रोचक विषय है जिसके प्रति प्रयोगकर्ता उदासीन रहता है और कभी-कभी बिल्कुल अनभिज्ञ। 'टिन' धातु से निर्मित होने के कारण ही पीपे बेचारे 'टिन' या 'टीन' कहलाते हैं। 'राउण्ड' शब्द ही 'रौंद' बनकर प्रयुक्त किया जाने लगा।

श्री जा० विश्वमित्र, एम० ए०

तेलुगु-भाषा में शतक-काव्य की परम्परा[१]

साहित्य रूपी महानदी में शतक-काव्य की धारा बहुत ही क्षीण होती है। जिस साहित्य में यह साहित्यिक विद्या समृद्ध रूप धारण करती है वह उस साहित्य की उल्लेखनीय विशेषता होती है। यही बात तेलुगु साहित्य और उसके शतकों के बारे में भी कही जा सकती है। भारतीय साहित्य की परम्पराओं के मूल स्रोत संस्कृत साहित्य में शतकों की संख्या एक शत (सौ) से अधिक नहीं है। अन्य प्रांतीय भाषाओं में भी इस साहित्यांग का समृद्ध रूप (संख्या और साहित्यिक महत्त्व की दृष्टि से) प्राप्त नहीं है। हिन्दी साहित्य में शतकों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है। लेकिन तेलुगु साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें शतक-काव्य की समृद्ध परंपरा दिखायी देती है। उसकी ऐसी अनेक विशेषताएँ भी हैं जो अन्य भाषाओं के शतकों में अल्प ही हैं। तेलुगु में ६०० से अधिक शतक-काव्य हैं, जिनका संबंध जीवन के विविध पक्षों से है। इस दृष्टि से भारतीय भाषाओं में तेलुगु का शतक-साहित्य समृद्ध है।

साहित्य और जीवन के विविध पहलुओं के विवेचन में सदा हमारी यह प्रवृत्ति रही है कि हम प्रत्येक का संबंध वेदकाल से स्थापित करते हैं। इस प्रवृत्ति के अनुसार तेलुगु साहित्य की शतक-रचना का मूल वेदों में मिलता है। स्तुति आदि में किसी निश्चित संख्या में भगवान् का गुण-वर्णन और उसके सहस्रनामों का उल्लेख आदि की संख्या ही शतकों का मूल रूप माना जा सकता है। लेकिन यह प्रतिपादन मात्र धृष्टता ही होगी क्योंकि वेद या पुराणों में शतक-काव्य जैसी कोई रचना नहीं दिखाई देती। उनमें केवल १०० या १०८ बार स्तुति करने की परंपरा दिखायी पड़ती है। इसी से हम यह नहीं कह सकते कि शतक का मूल रूप वही है। वस्तुतः इन शतकों के मूलरूप प्राकृत में मिलते हैं। भगवान बुद्ध के जीवन से संबंध रखने वाले अवदान प्राकृत में हैं। संभवतः ऐसी एक प्राचीन रचना हमें प्राकृत में मिलती है, जिसे 'अवदान शतक' कहते हैं। इसमें १०० निजंधरी कथाओं की व्यवस्था है।[२] इसके अतिरिक्त इनकी और एक विशेषता रही है कि इन

---

१. तेलुगु स्वरांत भाषा है। इसलिये कवियों और शतकों के नाम या आंध्र से संबंधित कोई नाम या तेलुगु शतकों के उदाहरणों को पाठक स्वरयुक्त बना कर पढ़ें। जहाँ हलंत होगा वहाँ उसका सूचक '़' का प्रयोग किया जायेगा।

२. "A particular species of avadanas are those in which the Buddha

सौ कथाओं को दस दशकों में विभक्त किया जाता था। इस तरह दशकों में विभक्त करने की प्रवृत्ति तेलुगु शतकों में भी दिखाई देती है। तेलुगु के श्रेष्ठ कवि पोतन के 'नारायण शतकमु' में दशकों का विभाजन किया गया है।

तेलुगु-साहित्य अधिकांश संस्कृत की साहित्यिक परंपरा पर चलता रहा। वह या तो संस्कृत साहित्य का अनुवाद है या उसी की साहित्यिक रूढ़ियों और परंपराओं का एक दर्शन है। उसमें स्वतंत्र रचना-पद्धति का रूप कम मिलता है। तेलुगु साहित्य के संबंध में किये गये इस सामान्यीकरण का अपवाद शतक साहित्य है। तेलुगु के शतक-काव्य ने संस्कृत का अनुकरण बहुत कम किया है। वह पद्यों की संख्या, दशकों में विभाजन आदि के लिए प्राकृत का ऋणी है न कि संस्कृत का। यद्यपि तेलुगु में संस्कृत के भर्तृहरि सुभाषित रत्नावली, मुकुन्दमाला, महिषशतक, रामकृष्ण आदि से संबद्ध शतकों के अनुवाद मिलने पर भी उनको तेलुगु साहित्य में वह स्थान नहीं मिला, जितना तेलुगु के अपने शतकों को। अतः यह सर्वथा सत्य है कि शतक-साहित्य तेलुगु की अपनी विशेषता है।

साहित्यिक विधा

शतकों को हम मुक्तकों के अंतर्गत रख सकते हैं।[१] कुछ विद्वानों ने तेलुगु के शतक-काव्यों को प्रगीत (lyric) माना है। प्रगीत के समान विशिष्ट भावगांभीर्य और प्रभावपूर्ण कुछ भक्ति के शतक हैं। शतकों में ऐसे शतक अधिक हैं, जो नीति संबंवी या चमत्कार से पूर्ण हैं। प्रगीत में जो भाव-प्रवणता और गेयता है वह इनमें एक तरह से अदृश्य है। इसके अतिरिक्त जिन भक्तिपरक शतकों को हमने प्रगीत माना है; सूक्ष्म काव्यदृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि दोनों में वहुत अंतर है। भक्तिपरक मुक्तक आत्मा को आनंद प्रदान करते हैं और प्रगीत हृदय को किसी न किसी भावावेश में डुबो देते हैं, जिनका संबंध कवि की स्वानुभूति से है। उनमें कवि का व्यक्तित्व प्रदर्शित होता रहता है। मुक्तकों में, प्रगीतों की वैयक्तिक अनुभूति, जो सामान्यतः लोकानुभूति से भिन्न है, नहीं दिखाई पड़ती। मुक्तक में वैयक्तिक रुचि की नहीं वरन् लोकरुचि की प्रधानता है। इसलिए इन शतक-मुक्तकों को प्रगीत मानना युक्तिसंगत नहीं होगा।

कुल आलोचकों की सम्मति है कि मुक्तकों की रचना अत्यंत कठिन है और साहित्य में

---

instead of a story of the past relates a prognastication of the future × × × × A work of the first variety is 'Avadana Shataka' which is most probably the most ancient of its kind. It is a collection of a hundred avadana legends." C. K. Narayan—'Literary History of Sanskrit Buddhism'—P. 46.

१. 'शतक कवुल चरित्रम्' (शतक कवियों का इतिहास) के लेखक श्री वंगूरि सुब्बाराव आदि।

उनका महत्वपूर्ण स्थान है।[1] उनके कथनानुसार शतक-काव्य प्रबंध-काव्य से श्रेष्ठ रचना है। क्योंकि-प्रबंध-काव्य में एक कथा होती है, जिससे कवि अपनी वैयक्तिक भावधारा की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता। कवि पर कथा का अंकुश लगा रहता है। मुक्तक की रचनायें इससे मुक्त हैं। इसलिए मुक्तक आत्मपरक (subjective) कविता है और प्रबंध-काव्य वस्तुपरक (objective) है। यद्यपि यह सत्य है कि शतक-काव्य आत्मपरक कविता है, तो भी वह कभी भी प्रबंध-काव्य से श्रेष्ठ नहीं हो सकता। मेरे मत में किसी एक काव्य-विधा का सही मूल्यांकन तभी हो सकता है जब कि हम उसे सहज रूप में देखें और उसकी तुलना किसी दूसरी साहित्य-विधा से न करें। मुक्तक में भावों की एकसूत्रता बनी रहती है। उसका महत्व वही है जो साहित्य में मुक्तक और सूक्तियों का है। इनमें कवि की आत्मानुभूति और भावुकता भी प्राप्त हो सकती है और रसहीन तथा अनुभूतिहीन सूक्तियाँ भी।

तेलुगु शतक-काव्य के लक्षण

यह सर्वविदित है कि शतक-काव्य की स्थूल विशेषता नियत संख्या संबंधी है। यह तेलुगु शतक-काव्यों में भी दिखायी पड़ती है। तेलुगु-शतक-काव्य की एक विशिष्ट विशेषता 'मकुट' का नियम है। मकुट का तात्पर्य यह है कि शतक-काव्य के प्रत्येक पद्य की अंतिम पंक्ति या अंतिम पंक्ति का पंक्त्यांश एक ही रहता है। संस्कृत और प्राकृत शतकों में संख्या-नियम तो है लेकिन मकुट नियम का पालन नहीं होता। यद्यपि तेलुगु शतक ने मकुट नियम को कन्नड-शतकों से ग्रहण किया है लेकिन उसका स्वरूप वहीं तक सीमित नहीं रहा। उसमें ऐसी विशेषता है जो कन्नड़-शतकों में नहीं है। तेलुगु शतक ने तेलुगु-काव्य की दो प्रधान प्रवृत्तियों––यति और प्रास[2]––को पूर्णतः स्वीकार

---

१. शतक वाङमय सर्वस्वमु (शतक वाङ्मय-सर्वस्व) की भूमिका के लेखक श्री मल्लंपल्लि सोमशेखर शर्मा आदि।

२. संस्कृत में 'यति' का तात्पर्य विच्छेद संज्ञा से है जहाँ पाठक रुककर फिर पढ़ने लगता है। तेलुगु में किसी विशिष्ट छंद में उसके लिए निर्दिष्ट स्थल में 'यति' निश्चित की जाती है। उदाहरणार्थ––उत्पलमाला नामक छंद में १०वें अक्षर पर यति निश्चित है। निर्दिष्ट यति-स्थान में वही वर्ण रखा जाता है जो उस पद्य के चरण के प्रथम अक्षर का सजातीय वर्ण होता है। इस तरह का 'यति'–नियम अन्य भाषाओं में नहीं प्राप्त होता। 'यति' छंद के प्रत्येक चरण में होती है। 'प्रास' उसे कहते हैं जो छंद के प्रत्येक चरण का द्वितीय वर्ण सजातीय रहता है। निम्नलिखित उदाहरण में 'यति' और 'प्रास' का महत्व समझना चाहिए।

धर सिंहासनमै नभंबु गोडुगै तद्देवतल् भृत्युलै
परमाम्नायमु लेल्ल वंदिगणमै ब्रह्मांडमागारमै
सिरि भार्यामणियै विरिंचि कोडुकै श्री गंग सत्पुत्रियै
वरुसन्नीधनराजसंबु निजमै वर्द्धिल्लु नारायणा।।

इस पद्य का अंतिम शब्द––'नारायण'––इसका मकुट है।

किया है । तेलुगु शतकों में जो मकुट है वही उसके छंद को भी स्पष्ट करता है। यह शतक अनेक छंदों में लिखे गये हैं। विभिन्न विषयों की अभिव्यक्ति के लिए विषयानुकूल विभिन्न प्रकार के छंदों का प्रयोग उपयुक्त समझा गया है। अधिकांश शतकों में प्रथम से अंत तक एक ही छंद का प्रयोग किया गया है। किसी शतक में कई छंदों का प्रयोग होने पर भी सभी पद्यों का मकुट एक ही सा है। ये यही विशेषताएँ तेलुगु शतक-काव्य को एक विशिष्ट रूप प्रदान करती हैं, जो दूसरी भाषाओं के शतकों में नहीं मिलतीं।

यद्यपि तेलुगु के आदिकवि नन्नय ने शतक नहीं लिखे, लेकिन कुछ ही वर्षों बाद पंडिताराध्युलु नामक कवि ने शतक की रचना की। इसलिए यह मानने में किसी को आपत्ति नहीं होगी कि तेलुगु-साहित्य के प्रारंभ के साथ ही शतक-काव्यों का श्रीगणेश हुआ। मैंने यहाँ केवल अध्ययन की सुविधा के लिए संपूर्ण शतक-साहित्य को चार उत्थानों में बांटा है।

प्रथम उत्थान (सन् ११००–१५००)

तेलुगु शतक का प्रारंभ श्री पंडिताराध्युलु ने किया। उनकी रचना 'शिव तत्व सारमु' है, जिसमें कवि ने शंकर-भक्ति की महिमा, अद्वैतवाद का खंडन, शैवभक्तों के विरोधियों की निंदा आदि विषयों का वर्णन किया है। इस शतक में 'मकुट' नियम का पालन सर्वत्र नहीं किया गया। इसका मकुट है 'शिवा'। कवि ने संभवतः अर्थ-गांभीर्य में बाधा न उपस्थित होने के उद्देश्य से कहीं कहीं 'शिवा' मकुट छोड़ दिया है। इसके अनन्तर पाल्कुरिकि सोमनाथुडु नामक एक कवि हुए। इन्होंने सर्वप्रथम सर्वलक्षण संपन्न 'शतक-काव्य' का निर्माण किया। इसलिए यह 'शतक-कवि-ब्रह्म' कहलाते हैं। इनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इनके समान नाना शास्त्र, पुराण, निगमागम के ज्ञाता कवि तेलुगु में बहुत कम हुए हैं। यह भी शिव-भक्त थे। शैवधर्म के प्रचार के लिए इन्होंने साधारण भाषा में अपना साहित्य रचा। इनका 'वृषाधिप शतकमु' काव्य शिवभक्ति से युक्त है। इसमें १०८ पद्य हैं। इन पद्यों का मकुट 'बसवा बसवा वृषाधिपा' है। इसके अनन्तर बद्देन नामक कवि ने 'सुमती शतकमु' की रचना की जो नीति-संबंधी है। इस शतक के महत्व का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि सारे आंध्र में प्राथमिक पाठशालाओं के विद्यार्थियों से यह कंठस्थ कराया जाता है। इनके बाद यथावाक्कुल अन्नमय्य नामक एक शैव कवि हुए जिन्होंने 'सर्वेश्वर शतकमु' लिखा। प्रथम उत्थान में लगभग १० शतक-कवि हुए जिनमें उल्लेखनीय हैं वेमन और पोतन। वेमन तेलुगु के कबीर माने जाते हैं। उन्होंने भी कबीर के समान ज्ञानमार्ग को साधारण जनता तक पहुँचा कर धर्म और भक्ति के नाम पर होनेवाले अंधविश्वासों और रूढ़ियों का खंडन किया है। उनके पद्यों का मकुट 'विश्वदाभिराम विनुर वेम' है। उस युग में वेमन के समान सामान्य प्रजा तक पहुँचनेवाला कोई संत कवि नहीं हुआ। सुलभ-सामान्य शैली में इतने महत्वपूर्ण विषयों को लिखने वाला न तो इसके पहले कोई हुआ और न उसके बाद ही। जहाँ तक पोतन का संबंध है, वह तेलुगु के सूरदास हैं। उन्होंने भागवत का स्वेच्छानुवाद किया, जो अपने माधुर्य के लिए काफी प्रसिद्ध है। शतककर्ता के रूप में उन्होंने 'नारायण शतकमु' लिखा। इसमें श्रीकृष्ण की लीलाओं, उनकी महिमा

के साथ साथ अवतारों और मोक्ष-प्राप्ति का वर्णन है। इस शतक की एक और विशेषता यह है कि पोतन ने उसे दशकों और विंशतियों में विभक्त किया है। जैसे——आदि दशक, अवतार दशक, दिव्यरूप दशक, नाम दशक, कृष्णावतार विंशति, ज्ञान विंशति और मोक्ष विंशति।

इस उत्थान के कवि या तो शैवभक्त या वैष्णवभक्त हैं। इस युग के शतकों के बारे में यही कहा जा सकता है कि शैव भक्ति और वैष्णव भक्ति संबंधित शतकों के अतिरिक्त कुछ नीति संबंधी, कुछ निर्गुणोपासना-संबंधी शतक भी लिखे गये हैं।

द्वितीय उत्थान (सन् १५००–१७००)

द्वितीय उत्थान में लगभग २५ शतक-कवि हुए। उनमें से मुख्य इस प्रकार हैं। सन् १५३० में धूर्जटि नाम के एक कवि उत्पन्न हुए जो उस युग में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। यह भी शिव-भक्त थे। इन्होंने 'श्री कालहस्तीश्चर शतकमु' लिखा। आंध्र प्रदेश में कालहस्ति नामक एक प्राचीन शहर है। वहाँ भगवान शंकर का मंदिर है। इन्हीं कालहस्ति की भक्ति के संबंध में यह शतक लिखा गया है। "यह वेद, वेदांग, उपनिषद, सांख्य, योग, शैवागम तथा दार्शनिक रहस्यों के जाननेवाले" महाकवि थे। ताल्लपाक अन्नमाचार्यडु नामक एक कवि ने वेंकटेश्वर और अलिमेलुमंग की रति-क्रीड़ाओं का वर्णन 'वेंकटेश्वर शतकमु' में किया है। इसे हम शृंगार-शतक भी कह सकते हैं। कवि ने निरुपति पुण्य क्षेत्र के भगवान और उनकी प्रेयसी (वेंकटेश्वर और अलिमेलुमंग) के शृंगार का वर्णन किया है। इस युग में एक विशिष्ट कोटि का कवि चोंडप्य हुआ। उसके शतकों के अलग अलग नाम नहीं हैं, वरन कवि के नाम पर ही 'चोंडप्प शतकमुलु' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके पद्यों की यह विशेषता है कि उनमें अश्लील वचन या गालियों के माध्यम से नीति की बातें बतलाने का प्रयत्न किया गया है। उनका विचार है कि नीति और गाली दोनों लोक में प्रख्यात हैं। इन तीन चार कवियों के साथ ही एलकूचि बाल सरस्वति नामक कवि का उल्लेख भी आवश्यक है। यह बड़े विद्वान, वैयाकरणी और कवि थे। इन्होंने भर्तृहरि सुभाषित रत्नावली नामक संस्कृत के तीन शतकों के संग्रह का अनुवाद किया। इन तीन शतकों के लिए तीन मकुट रखे——शृंगार शतक के लिए 'सुरभि मल्ला' नीतिशतक के लिए 'नीति वाचस्पती' और वैराग्य शतक के लिए मानिनी मन्मथा'।

इस युग में पिछले युग के समान ही शैव तथा वैष्णव भक्ति संबंधी शतक और नीति शतक मिलते हैं। इसके अतिरिक्त इस समय शृंगार रस से पूर्ण शतक भी लिखे गये। इस युग की एक और विशेषता यह जान पड़ती है कि पैंडिपाटि नृसिंह कवि ने रामचंद्र शतक और कृष्ण शतक को दस दस दशकों में बांटा है।

तृतीय उत्थान (सन् १७००–१८००)

सन् १७०० के अनंतर शतकों की रचना अधिक हुई। थोड़े से छंद ज्ञान प्राप्त कवि भी अपने निवासस्थान के किसी देवी या देवता के नाम पर शतक लिखने लगे। कवियों ने शतक-

रचना को एक तरह से काव्य-पटुता प्राप्त करने का साधन बना लिया था। इस युग में कुछ ऐसे भी कवि हुए, जिन्होंने ६०-७० शतकों की रचना की। सन्यासी नामक एक कवि ने १०० शतक लिखे। काव्य-गरिमा से पूर्ण शतकों की संख्या आनुपातिक दृष्टि से पूर्व से कम से कम हो गयी। ऐसे भी कुछ कवि हुए, जिनमें भाव-गरिमा के अभाव के साथ-साथ काव्य के लक्षणों का साधारण ज्ञान भी नहीं रह गया था।

'कवि सार्वभौम' कूचिमंचितिम्म कवि न केवल शतककर्त्ता के रूप में ही विख्यात हैं, वरन् वह अपने समय के संपूर्ण तेलुगु साहित्य में श्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उन्होंने 'कुक्कुटेश्वर शतकमु' लिखा। इसका मकुट—'भूनुत विलास-पठिकापुर निवास ! कुमुद हित कोटि संकाश ! कुक्कुटेश' है। इस शतक की एक और विशेषता यह है कि इसमें अधिकांश तेलुगु भाषा के ही शब्दों का प्रयोग किया गया है। भर्तृहरि के शतकों के अनुवाद तो तेलुगु के कई कवियों ने किये किन्तु उनमें सर्वाधिक प्रसिद्धि एनुगु लक्ष्मण के अनुवादों को प्राप्त हुई। गोगुलपाटि कूर्मनाथ कवि ने 'सिंहाद्रि नारसिंह शतकमु' लिखा। उसमें कवि नरसिंह भगवान से प्रार्थना करता है कि आंध्र देश, जो मुसलमानों के आक्रमण से पददलित हो रहा है, उसे बचाओ और शत्रुओं का संहार करो। इस युग के कवियों में अडिदमु सूरकवि का नाम छोड़ा नहीं जा सकता। उन्होंने 'राम लिंगेश शतकमु' लिखा। इसमें कवि ने अपने समय के विजयनगर साम्राज्य के राज-प्रतिनिधि सीताराम राजु के अन्याय और अत्याचारों का निर्भय होकर वर्णन किया है। इस शतक में उस समय के पूँजीपति जमींदारों के अमानवीय कृत्यों का भी चित्रण दिखलायी पड़ता है। इसके अतिरिक्त इस शतक में नीति और भक्ति-संबंधी पद्य भी हैं। तेलुगु साहित्य में यह केवल सफल शतक कवि ही नहीं; एक रस-सिद्ध कवि भी हैं। इस युग में, यद्यपि बौद्धधर्म का प्रचार समाप्त हो चुका था, तब भी श्रीपति भास्कर कवि ने 'चित्त शतकमु' नामक बौद्धधर्म से संबंधित एक शतक लिखा।

इस प्रकार तृतीय उत्थान में विशेष प्रकार की अधिक रचनाएँ नहीं हुईं। केवल भक्ति की रचनायें प्रधान रहीं। भक्ति के अतिरिक्त दूसरा उल्लेखनीय विषय—सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण भी रहा है। इस युग के अन्य सभी कवियों ने प्रायः भक्ति के शतक लिखे। बौद्ध धर्म से संबंधित शतक का लिखा जाना भी इस युग की एक विशेषता है।

चतुर्थ उत्थान (सन् १८००—अब तक)

१८वीं सदी से अब तक सैकड़ों शतक कवि हुए। इन कवियों ने नाना प्रकार की रचनाएँ कीं। जिस तरह 'सुमती शतकमु' प्राथमिक पाठशाला के बच्चों को अनिवार्य रूप से पढ़ाया जाता है, उसी तरह फक्किवेंकट नरसय्य का 'कुमारी शतकमु' भी है। यह विशेष रूप से लड़कियों को पढ़ाया जाता है। इसमें ऐसे अनेक नीति-उपदेश हैं जो स्त्रियों के दैनिक जीवन के लिए आवश्यक हैं। पोलिपेद्दि वेंटकराम कवि ने 'वेणु गोपाल शतकमु' और 'लावण्य शतकमु' की रचना की। प्रथम में राजाओं, उनके अधिकारियों तथा सामाजिक कुरीतियों का चित्रण है

और द्वितीय में श्रृंगारिक क्रीड़ाओं का अभिधार्थ में वर्णन है। इस तरह गोपी नाथमु वेंकट कवि ने भी 'ब्रह्मानंद शतकमु' लिखा, जिसमें कवि ने वात्स्यायन के कामसूत्रों को तेलुगु पद्यों में उपस्थित किया है। कोक्कोंड़ वेंकटरत्नमु ने संस्कृत में 'बिश्वनाथ शतक' आदि रचे। एक कवि ने 'भक्त चिंतामणि शतकमु' शिखा, जो भक्ति की दृष्टि से उत्तम रचना है। इस युग की एक और विशेषता यह है कि अनेक कवयित्रियों ने भी शतक लिखे। उनमें तरिकोंड़ वेंकय्य, बांडि बंगारम्म, चेलकानि चेल्लायम्म प्रमुख हैं। इन तीनों की रचनाएँ भक्ति से ही संबंधित हैं।

इसी प्रकार अन्य शतकों का यदि सर्वेक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट हो जायेगा की यह युग भक्ति का था। भक्ति में वैष्णव भक्ति (राम और कृष्ण की) के गोपाल, नारायण, श्रीकृष्ण, विष्णु, नृसिंह, राम, जानकी पति, राम राघव शतक आदि लिखे गये। शैव भक्ति संबंधी शतक भी रचे गये। शक्ति की उपासना करने वालों ने भी दुर्गा, भवानी, त्रिपुरसुंदरी के नामों से शतकों का निर्माण किया। इसके अतिरिक्त आंध्र प्रदेश के विविध स्थानों से संबद्ध देवी-देवताओं की उपासना में भी शतक निर्मित हुए। इस युग में वेमन की ज्ञान और नीति तथा निगुणोपासना की विचारधारा प्रचलित रही। सदानंद वरद राज योगि नामक कवि ने 'सदानंद योगि शतकमु' और हुसैनदास ने 'हुसैनदासु शतकमु' लिखे। इसी समय आश्चर्य उत्पन्न करने वाला एक और शतक निकला। उसका नाम 'एसुनाथ शतकमु' है और उसके कर्ता का नाम चौदरि पुरुषोत्तम है। इसमें एसुनाथ (ईसा मसीह) की भक्ति से संबद्ध पद्य हैं।

आजकल के कवियों में दो नाम विशेष रूप से लिये जा सकते हैं। एक हैं श्री विश्वनाथ सत्य नारायण और दूसरे हैं नार्ल वेंकटेश्वरराव। प्रथम तो बहुमुखी प्रतिभा वाले साहित्यिक हैं। उनका 'मास्वामि' (हमारे स्वामी) एक शतक है। द्वितीय के पद्य 'वास्तवस्मु' (सत्य) शीर्षक से प्रकाशित है। ये दोनों आधुनिक तेलुगु-साहित्य में प्रतिष्ठित व्यक्ति माने जाते हैं।

विषय-वस्तु की दृष्टि से

सामाजिक और सांस्कृतिक गति विधि का प्रभाव साहित्य पर पड़ना अनिवार्य है। साहित्य और सामाजिक मूल्य-मान्यताओं का अविच्छिन्न संबंध शतक-काव्य में भी है। सन् ११०० से अब तक एक अबाध भक्ति की धारा प्रवाहित होती रही। हां, समय के प्रभाव से वह धारा कभी क्षीण और कभी प्रबल होती रही। तेलुगु साहित्य के आरंभिक काल से लेकर इस सदी के प्रारंभिक दशक तक कवि प्रायः राजाश्रित रहे। इस समय साहित्यिक क्षेत्र में कुछ ऐसे भी राजा हुए जो सन् १९२५ के आसपास तक अपने आश्रय में कवियों को रखते थे। इसलिए तेलुगु शतक-साहित्य में कुछ श्रृंगार के भी शतक मिलते हैं। इस शतक कवि-कुल में कुछ विद्रोही कवि भी हुए हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा सामाजिक गंदगी को दूर करते हुए उसे नया मार्ग दिखाया; कुछ ने नीति और उपदेशों द्वारा सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ रूप देने का प्रयत्न किया और कुछ ने समाज व्यवस्था-विरोधी राजाओं, उनके अधिकारियों और समाज के बड़े लोगों

के अविनीति पूर्ण कार्यों का खंडन किया है। इस तरह तेलुगु का शतक-काव्य विविध विषयों से अनुप्राणित है।

भक्ति की व्यापकता

भारतीय भक्ति-परंपरा में जो विविध रूप दिखाई देता है उन सबका समावेश तेलुगु के शतक काव्य में दृष्टिगोचर होता है। तेलुगु के शतक-काव्य का आरंभ ही शैवभक्ति से हुआ है। आदि शतक ('शिवतत्व सारमु') में अद्वैतवाद का खंडन, भक्ति और भक्तों की महिमा, शैवेतरों की निंदा आदि वर्णित है। शैवभक्तों में सब से अधिक प्रभावशाली पाल्कुरिकि सोमनाथुडु हैं, जिनकी रचना में न केवल भक्ति ही है, वरन् काव्यतत्व भी अधिक है। उनका 'वृषाधिप शतकमु' इसका प्रमाण है। उन्होंने शिव के वाहन वृषभ को (बसव देव) को शिव के समान ही माना है। वह वृषभराज से संबोधन करते हैं:--

"नायोड युंडु, ना विभुड ना हृदयेश्वर ना मनोहरा
ना इलवेल्प ना वरद ना गुरुलिंगम नादु जंगमा
ना यधिनाथ नावरूड नन्नु गृपामति ब्रोवमय्य दे-
वा यमिबृंद वंद्य बसवा, बसवा बसवा वृषाधिपा" ॥

अर्थात्--हे मेरे प्रभु, मेरे हृदयेश्वर, मेरे मनोहर, मेरे इष्टदेव, वर देने वाले और ऋषि मुनियों से पूजे जाने वाले, हे वृषाधिप (वृषभों में श्रेष्ठ--शंकर के वाहन) मुझ पर कृपालु होकर मेरे मन में बस जाओ।

शैवभक्तों में महान कवि और भक्त धूर्जटि हैं। उन्होंने राजाश्रय त्यागकर कालहस्तीश्वर (शंकर) को अपना सर्वस्व माना है। राजाश्रय की निंदा करते हुए उन्होंने भक्ति की महिमा गायी है। शिव की उपासना से संबंधित अनेक शतक तेलुगु में हैं। आधुनिक युग में शिव-भक्ति संबंधी शतकों में श्री विश्वनाथ सत्यनारायण जी का 'मास्वामि' (हमारे स्वामी) काव्य प्रशंसनीय है। इस शतक की विशेषता यह है कि कवि आधुनिक जीवन की अनेक समस्याओं में लिप्त अपनी आत्मा को, जो कभी बीबी-बच्चों की तरफ आकृष्ट होती है, कभी सामाजिक प्रतिष्ठा की ओर झुकती है और कभी कभी भगवान को पाना चाहती है, सदा के लिये भक्ति की तरफ मोड़ना चाहता है। बीच बीच में कवि अपनी परिसीमाओं को प्रगट करते हुए कहता है कि मेरा मन जितना इन सांसारिक सुखों को भोगने में लीन रहता है उतना भगवान में लीन नहीं होता। वह कहता है --

"तेलि पूबानुपु लंडु नोत्तिगिलि निद्रिंपन् जगालेत वे-
न्नेल लो जललनि पिल्ल गालि पोर लो नेम्मेनु चेर्पन् नेलं-
तल ले नव्वुल सोगबुग्ग गिलिगिंतल् वेट्ट नेंतेंत को-
र्कुलु ना कुन्नवो, अंत निनु गनु कोर्कुल् लेवु विश्वेश्वरा॥"

अर्थात्--कोमल पुष्प शय्या पर सोने, स्निग्ध चांदनी और मंद पवन की लहरियों में शरीर को आराम देने तथा सुकुमार सुंदरियों के मुस्कराहट से पूर्ण सुंदर कपोलों को मदहोश करने की और न जाने कितनी ही ऐसी ही इच्छाएं मेरे मन में हैं। हे विश्वेश्वर! उतनी इच्छाएँ उस मात्रा में तुम्हें पाने की मेरे मन में नहीं हैं।

तेलुगु शतक-साहित्य में संख्या की दृष्टि से वैष्णव-भक्ति से संबंधित पद्यों की अधिक रचना हुई है। इसमें कृष्ण और राम को लेकर भी अलग अलग शतक लिखे गये। कुछ अवतारों पर लिखे गये शतक भी मिलते हैं। वैष्णव भक्त कवियों में सर्व प्रथम पोतन आते हैं; जिन्होंने अपनी भक्ति की धारा में सारे आंध्र देश को आप्लावित कर दिया। उन्होंने भगवान नारायण की भक्ति में अनेक पद्य लिखे, जिनमें एक इस प्रकार है--

"धर सिंहासनमै नभंबु गोडुगै तद्देवतल भृत्युलै
परमाम्नायमु लेल्ल वंदिगणमै ब्रह्मांडमागारमै
सिरि भार्याभणियै विरिंचि कोडुकें श्री गंग सत्पुत्रियै
वरुसन्नी घनराजसंबु निजमै वर्द्धिल्लु नारायणा।।"

अर्थात्--हे नारायण यह सारी पृथ्वी तुम्हारा सिंहासन है, यह आकाश तुम्हारी छतरी है, वेद तुम्हारे पुरोहित और चारण हैं, यह सारा ब्रह्मांड ही तुम्हारी संपत्ति का आगार है, लक्ष्मी तुम्हारी भार्या है, ब्रह्म तुम्हारा पुत्र है और गंगा तुम्हारी सुपुत्री है। इस तरह तुम्हारा ऐश्वर्य से पूर्ण राजत्व निरंतर प्रवर्द्धमान होता रहेगा।

इसके अतिरिक्त कृष्ण के जीवन से संबद्ध रास-क्रीड़ा, गोपिका-विरह, मुरली-नाद आदि का वर्णन इस शतक में किया गया है।

दशरथ-पुत्र श्रीरामचंद्र की भक्ति से पूर्ण रचना 'दाशरथी शतकमु' है। इसका रचयिता कंचर्ल गोपन्न है। इसने इस शतक में अपने जीवन तथा परिवार-संबंधी कुछ बातों को कहने के अनंतर भक्ति के उद्गारों को व्यक्त किया है। इसके अतिरिक्त उसके कीर्तन (गीत) भी मिलते हैं।

शक्ति की उपासना भी थोड़ी बहुत आंध्रदेश में प्रचलित रही है। कुछ कवियों ने शतकों में शक्ति की उपासना और भक्ति का वर्णन किया है। उनमें श्री श्रीनिवास कवि द्वारा रचित 'त्रिपुरसुंदरी-शतकमु' शक्ति की भक्ति का सुंदर उदाहरण है। उन्होंने शक्ति की महिमा का वर्णन करते हुए कुछ पद्यों में यह बतलाया है कि मथुरा की मीनाक्षी, अरुणाचल की देवी, कालहस्ति की प्रसूनाबा, कंचि की कामाक्षी, काशी की विशालाक्षी आदि सभी त्रिपुरसुंदरी के नाना रूप हैं। एक स्थान पर कवि कहता है --

"रूद्रुनि केन्निरूपमुलो रूढ़िग नन्नियु दाल्लि नीवु ना
मुद्र वहिंचि ईश्वरूनि मोहन लील विलास लील वै
भद्र करंबु सेयुचुनु पापमुलेल्ल दोलंगजेसि है--

माद्रि कोमार्तेवैन परमात्मनि निन्निपुडेनुगोल्तु नो
सद्व्रतलोलिनी त्रिपुरसुंदरि यादिपुरी निवासिनी।"

अर्थात्——हे त्रिपुर सुंदरी ! भगवान रुद्र ने जितने रूप धारण किये उतने रूप तुमने भी धारण किये। उस भगवान शंकर की मोहनलीलाओं के लिए विलास बनकर (भक्तों के) सारे पापों को दूर करते हुए (भक्तों का) कल्याण करती हो। हे हिमवान की पुत्री परमेश्वरी, सद्व्रतों में लीन रहने वाली आदिपुरी की निवासिनी मैं तुम्हारी पूजा करता हूँ।

नीति और उपदेश

नीति और उपदेश संबंधी ही नहीं भक्ति, दर्शन, समाज-सुधार संबंधी भावनायें भी शतकों में व्यक्त की जाती हैं। अंतर केवल यह है कि नीति शतकों में केवल नीति संबंधी विचार तथा अन्य शतकों में स्फुट रूप में व्यक्त की गईं हैं। तेलुगु-शतकों में केवल नीति शतक भी है तथा अन्य शतकों में नीति संबंधी भवनायें बीच बीच में व्यक्त की गयी हैं। 'सुमती शतकमु' और 'कुमारी शतकमु' के द्वारा बच्चों की बाल-बुद्धि में नीति का प्रवेश कराया जाता है। सुमती शतक में सभी नीति के ही पद्य हैं। जैसे——

"पनिचेयु नेडल दासियु ननुभवमुनरंभ मंत्रियालोचनलं।
दन भुक्ति येडल दल्लियु नन दन कुलकांत युंड नगुरा सुमती।।"

अर्थात्——हे सज्जन ! काम करने के लिए दासी, भोगने के लिए रंभा, मंत्रणा के लिए मंत्री और भोजन कराने के लिये माता और आत्मीयता के लिए भार्या की आवश्यकता होती है।

'कुमारी शतकमु' से भी एक उदाहरण लेना अप्रासंगिक नहीं होगा——

"बद्दकपु संज निद्दुर, वद्दु सुमी दद्दिरंबु वच्चुनु दानिन्।
गद्दिंतु रिंटिवारलु मोंद्ददुरु तोडिवारु सुद्दु कुमारी।।"

अर्थात्——हे कुमारी ! आलस्य और सायं निद्रा दोनों तुम्हारे लिये त्याज्य हैं। इनसे दरिद्रता आती है, घरवाले बिगड़ते हैं, सखी-सहेलियाँ तुम्हें गोबर गणेश कहेंगी।

वेमन की रचना में नीति के सुंदर पद्य भी हैं। जैसे——

"पट्टु विडुवरादु पदिलक्षलकु नैन, वेट्टि चेप्परादु पेदकैन।
वेर्रि गोलुव रादु प्रभुडैंत विभुडैन विश्वदाभिराम विनुरवेमा।।"

अर्थात्——हे वेमन ! सुनो दस लाख के बदले भी अपने लगन को नहीं छोड़ना चाहिए, गरीब को (दान) देकर उसका प्रचार न कराना चाहिये। राजा जितना ही धनी क्यों न हो, यदि वह मूर्ख है तो उसके आश्रय की चाह नहीं करनी चाहिए।

इसी तरह पट्टाभिराम कवि ने 'गुव्वल चेन्न शतकमु' लिखा है। इस शतक की नीतियाँ बड़ी चुभती हुई और विनोदपूर्ण हैं।

आधुनिक साहित्य में नार्ल वेंकटेश्वर राव ने भी कुछ नीति संबंधी पद्य लिखे हैं।

श्रृंगार

तेलुगु शतक-साहित्य में भक्ति और श्रृंगार की धाराएँ निरंतर प्रवाहित होती रही हैं। किन्तु उत्तर मध्यकाल तक आते आते भक्ति से अधिक श्रृंगार ही शतक-काव्य का विषय हो गया। प्रथम उत्थान के समय श्रृंगार-शतकों की संख्या बहुत कम रही। उस समय के शतकों में 'देवकी नंदन शतकमु' आदि में श्रृंगार क्रीड़ाओं का वर्णन मर्यादा की सीमा में ही किया गया है। लेकिन द्वितीय उत्थान के श्रृंगार-शतकों में उसी तरह की अश्लीलता और अस्वस्थ श्रृंगार का वर्णन मिलता है जैसा कि हिन्दी के रीतिकालीन साहित्य में कहीं कहीं। हिन्दी के रीतिकाल में श्रृंगार के माध्यम अधिकांश रूप से राधा और कृष्ण ही रहे हैं, लेकिन तेलुगु के शतक कवियों ने राधा और कृष्ण के साथ अन्य देवी-देवताओं को भी अपनाया है। शतक-कवियों में से किसी ने राधा और कृष्ण को, किसी ने अलिमेलुमंग और वेंकटेश्वर को और किसी ने सामान्य लोगों को ही नायिका-नायक मानकर शतक रचे हैं। अन्नभाचार्युडु के 'वेंकटेश्वर शतक' में वेंकटेश्वर (विष्णु) और अलिमेलुमंग (विष्णु की प्रेयसी पद्मावती) का श्रृंगार मिलता है। राविधारि त्रिपुरांतकुडु का 'अंबिका शतकमु' में शिव और पार्वती की श्रृंगारिक क्रीड़ाओं का वर्णन है। पोलि पेद्दि वेंकटराय कवि का 'लावण्य शतक' प्रसिद्ध श्रृंगार रचना है। उसमें नायिका की विभिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न प्रकार की नायिकाओं की विविध दशाओं का अभिधामूलक वर्णन है। तेलुगु के शतकों में या काव्यों में इतनी नग्नता के साथ किसी ने श्रृंगार-रचना नहीं की। इसी तरह गोपीनाथमु वेंकट कवि ने 'ब्रह्मानंद शतकमु' में प्रधानतः गोपिकाओं और कृष्ण के संयोग-वियोग का वर्णन करते हुए कामशास्त्र की सोलहों कलाओं और नाना प्रकार की संभोग-क्रीड़ाओं का चित्रण किया है। एक वाक्य में कहा जाय तो, यह कामशास्त्र का काव्य रूप है। 'नायकी नायक शतकमु' और 'मदन गोपाल शतकमु' इसी कोटि के हैं। संस्कृत के अमरू-शतक का अनुवाद भी तेलुगु शतकों में हुआ है।

दर्शन

शतक-रचयिताओं में अद्वैतवादी दर्शन को अपनाकर अपने तात्विक विचारों को शतकों में व्यक्त करने वाले संत-कवियों की संख्या अपेक्षाकृत भक्ति और श्रृंगार के कवियों की संख्या से कम है। इन संत-कवियों में वेमन बहुत प्रसिद्ध हैं। वह अद्वैतवादी दार्शनिक थे; निराकार, निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते थे। वह आत्मज्ञान की बात समझाते हुए एक स्थान पर कहते हैं:—

"नेननग मेनुकादनि मानसमु नेरुगकुन्न मनुजुल केल्लन्।
स्वानुभव-सिद्धि दोरकदु तानगु परमात्म नेरुग दरमा वेमा।।"

अर्थात्—मैं का तात्पर्य इस शरीर से नहीं है। जो व्यक्ति 'मैं' का तात्पर्य शरीर नहीं

है; इस तरह नहीं जानता, उसे आत्मज्ञान नहीं हो सकता। ऐसे मनुष्य के लिए यह सत्य जानना असंभव है कि वही (जीवात्मा) परमात्मा है।

इसके अतिरिक्त उन्होंने कबीर के समान कुछ उल्टवासियाँ भी लिखी हैं। जैसे—

"कुक्क दिन्नवाडु गुरुलिंग जंगंबु पंदि तिन्नवाडु परमयोगि।
एन्गु दिन्नवाडु एंत सुज्ञानिरा विश्वदाभिराम विनुर वेमा।।"

अर्थात्—हे वेमना! सुनो जो कुकुर (क्रोध) को खाता है वह चलता फिरता भगवान है, जो सुअर (मूर्खता) को खाता है वह महायोगी है, जो हाथी (मद) खाता है वह बहुत ही बड़ा ज्ञानी है। वेमन के मार्ग पर चलते हुए परमानंद यति, सदानंद वरदराजयोगि और शांत नंद योगि आदि ने निर्गुण ब्रह्म संबंधी शतक रचे हैं।

अश्लीलता

तेलुगु शतक-कर्त्ताओं में कुछ ऐसे कवि हुए हैं जिन्होंने सामाजिक बुराइयों को दूर करने या सस्ते ढंग से पाठकों को आकृष्ट करने के लिए अश्लील बातों का वर्णन भी किया है। इनमें सर्वप्रथम हमारी दृष्टि कवि चोंडप्प की ओर जाती है। उनका विचार है कि नीति और गालियाँ दोनों लोकप्रसिद्ध हैं। कवि उसकी कविता पढ़कर हँसी उड़ाने वालों को जवाब देता है कि लोग यह कह कर कि मेरी कविता गालियों से पूर्ण है, हँसी उड़ाते हैं। लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि गालियाँ भी उनके बाप दादों से लगातार चली आ रही हैं। उन्होंने अपनी कविता के लक्ष्य के बारे में कहा है—

"बूतुलु नीतुल चेप्पिति नीतुल मेच्च बुधुल् नीति विदूरुल्।
बूतुल मेच्चंदगुननि कौतुकमति कुंदवरपु कवि चोडप्पा।।"

अर्थात्—मैंने नीतियाँ और गालियाँ दोनों लिखी हैं। मेरी नीतियों से नीतिवान चतुर प्रभावित होते हैं। नीतियों के समान ही गालियाँ भी प्रशंसनीय हैं—ऐसा कुंदवरपु कवि चोंडप्प मानते हैं। इनकी कविता में आत्म प्रशंसा की निंदा, लोभियों के कार्यों की बुराई, संभोग की प्रशंसा, गुह्यांगों का वर्णन, दुष्ट राजाधिकारियों की निंदा आदि गालियों के माध्यम से ही व्यक्त किये गये हैं। वस्तुतः कवि ने अपने इन अश्लील पदों के माध्यम से नीति का प्रचार और सामाजिक बुराइयों का खंडन किया है। पद्यों का गूढ़ार्थ सामान्य पाठक के समझ के परे है। अधिकांश पद्यों का शाब्दिक अर्थ ही उन्हें अधिक ग्राह्य रहा है। वेमन के पद्यों में कहीं कहीं अश्लील पद्य मिलते हैं, लेकिन उनमें गूढ़ार्थ की प्रधानता है। 'ब्रह्मानंद शतकमु' इसी कोटि की रचना है। इसमें कई ऐसे अश्लील पद्य हैं, जिन्हें चार लोगों में बैठकर नहीं पढ़ा जा सकता।

इस प्रकार तेलुगु-शतकों का क्षेत्र व्यापक है। उसमें विषय बहुलता और संख्या की भी

अधिकता है। तेलुगु-शतक में भक्ति, भुक्ति, मुक्ति, शृंगार, नीति-उपदेश, व्यंग्य और अश्लील आदि सभी प्रकार की भावना है। रसों की दृष्टि से देखा जाय तो उनमें शांत, शृंगार, हास्य, अद्भुत, वीभत्स और करुण सभी रस मिलते हैं। इस रूप में शतक-काव्यों में काव्य की रसमयता, धर्मग्रंथों की धार्मिकता, भक्तों की भक्ति भावना, महापुरुषों की उपदेशात्मकता और नीति, संतों की ज्ञान-मूलक उपासना संबंधी बातें सरल भाषा में (अपेक्षाकृत तेलुगु प्रबंध-काव्यों में) कही गयी हैं।

इस प्रकार बहु क्षेत्रीय शतक-काव्य को तेलुगु के आदि और मूर्द्धन्य आलोचकों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। हर्ष की बात है कि आज के विद्वानों की दृष्टि इस ओर गयी है और उन्होंने साहित्य की इस दिशा में अध्ययन करना प्रारंभ किया है। तेलुगु के शतक-साहित्य के महत्व को जानने के लिए और भी व्यापक शोध की आवश्यकता है।

विविधा

राजा शिवप्रसाद कृत 'राजा भोज का सपना'

इस छोटे से निबंध में हम यह विवेचन नहीं करेंगे कि आधुनिक हिन्दी गद्य के प्रतिष्ठापकों में लल्लूलाल, सदल मिश्र, सदासुखलाल या इंशाअल्ला खाँ में से किसको प्रथम या प्रमुख माने अथवा अनजान ईसाई-प्रचारकों अथवा राजा शिवप्रसाद को प्रतिष्ठित करें। फिलहाल हम केवल इस छोटे-से 'निबंध' (जिसे आचार्य शुक्ल ने कहानी—छोटी कहानी—के अंतर्गत न रखकर इसकी महत्ता कायम रखी) में सामाजिक और सांस्कृतिक अध्ययन करके उस युग तथा राजा शिवप्रसाद की प्रवृत्तियों के संबंध में कुछ निष्कर्ष निकालेंगे।

हम जानते हैं कि आधुनिक हिन्दी गद्य के महान प्रचारकों में तीन का नाम कभी नहीं भुलाया जा सकता है—बनारस के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द', पंजाब के बाबू नवीनचंद्र राय और बिहार के बाबू भूदेव मुकर्जी। महान भारतीय क्रांति (१८५७) के समय तक हिन्दी गद्य-क्षेत्र लगभग मौलिक तथा शुद्ध साहित्य से सूना ही पड़ा था। जॉन गिलक्राइस्ट के प्रयासों ने जो कुछ भी किया उसका उपयोग एक ओर तो ईसाई प्रचारकों ने जन भाषाओं के विस्तार में किया और दूसरी ओर राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह तथा भारतेन्दु मंडल के नवरत्नों ने। वस्तुतः उस समय प्रत्येक क्षेत्र में लगभग तीन भाषाओं का सहअस्तित्व रहता था—दरबारों की भाषा फारसी, साहित्य की भाषा ब्रज और घरेलू भाषा उपबोली (पंजाबी, बनारसी, अवधी, भोजपुरी आदि)। एक नई विदेशी भाषा—अंग्रेजी—से नई प्रेरणा और नई चुनौती ग्रहण करके साहित्यिक भाषा का प्रश्न और भी तीव्र हो उठा था, लेकिन घरों में बोली जानेवाली उपबोलियों का स्थान सुरक्षित रहा। पहले यह काम ब्रजभाषा से चल जाता था किन्तु गद्य की प्रतिष्ठा के बाद समृद्ध उर्दू-भाषा के समानांतर खड़ीबोली का गद्य भी सामने आने लगा। बाबू भूदेव मुकर्जी और राजा शिवप्रसाद का लक्ष्य (सरकारी शिक्षा-विभागों से संबंधित होने के कारण) शिक्षा-विस्तार अधिक रहा। क्योंकि उस समय 'उर्दू-फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की' भी बोलचाल की भाषा थी (राजा लक्ष्मण सिंह) इसलिए एक साहित्यिक से अधिक शिक्षा-शास्त्री और जनवादी से अधिक 'राजभक्त' होने के नाते राजा शिवप्रसाद ने उस उर्दू मिश्रित हिन्दी का पक्ष लिया जो 'आम-फहम' और 'खास-पसंद' हो। इस भाषा-सिद्धांत को उन्होंने 'भाषा का इतिहास' नामक लेख में प्रतिपादित किया। दूसरी ओर नवीनचंद्र राय, राजा लक्ष्मणसिंह, श्रद्धाराम फुल्लौरी आदि शुद्ध-साहित्यिक दृष्टि से साहित्य-सृजन और प्रचार कार्य करना चाहते थे। वह अपनी भाषा का संबंध लुप्तप्राय विशाल संस्कृत की परंपरा से जोड़कर उसे मुसलमानी सांप्रदायिकता तथा

अंग्रेज़ी की गुलामी से बचाए रखना चाहते थे। अतः एक पक्ष शिक्षा-प्रसार को ध्यान में रखे था तो दूसरा साहित्य-सृजन को; एक पक्ष बोलचाल की भाषा विकसित करने की चेष्टा कर रहा था; तो दूसरा साहित्य की उदात्त गंगा को प्रवाहित करना चाहता था; एक पक्ष उर्दू-अंग्रेजी उपबोलियों का समन्वय चाहता था तो दूसरा उसे संस्कृत की लुप्तप्राय परंपरा से जोड़कर पुनरुत्थानवादी रूप देना चाहता था। मुझे तो यह प्रतीत होता है कि शुरू में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के भाषा-सिद्धांत और राजा लक्ष्मणसिंह के भाषा-सिद्धांत में जो द्वंद्व है वह है बोल-चाल की भाषा और साहित्य की भाषा को समानांतर रूप में एक स्थान में प्रतिष्ठित करने का। राजा शिवप्रसाद की परंपरा से हमें देवकीनंदन खत्री और मुंशी प्रेमचंद जैसे साहित्यकार मिले और राजा लक्ष्मणसिंह की परंपरा से भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र (जो राजा शिवप्रसाद के शिष्य थे) श्रीधर पाठक और जयशंकर प्रसाद। आज हम अधिक निरपेक्ष्य होकर हिंदी-उर्दू, मुसलमान-हिन्दू आदि के निरर्थक प्रश्नों को अलग करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं।

इसके प्रमाण में हमें दो और बातें देखना चाहिए:—

(क) राजा शिवप्रसाद ने साहित्य की पाठ्य पुस्तक "गुटका" में जो साहित्यिक अंश संकलित किये उनमें उन्होंने अपना "राजा भोज का सपना" ही उचित ठहराया। इसके अलावा उसमें राजा लक्ष्मणसिंह की "शकुंतला नाटक" के भी कुछ अंश ग्रहण किये गए।

(ख) भारतेन्दु-मंडल के सभी श्रेष्ठ लेखकों ने उर्दू में भी शायरी की है। भारतेंदु 'रसा' उपनाम से, प्रतापनारायण मिश्र 'बाम्हन' उपनाम से और प्रेमघन 'अब्र' उपनाम से गजलगोई भी करते थे। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने भारतेंदु-कलालोकित हिन्दी को ही आदर्श हिन्दी माना है किन्तु इसका समकालीन शोध उर्दू द्वारा भी हुआ है और प्रांजलता का विकास ब्रजमाधुरी तथा संस्कृत-भव्यता द्वारा। उस काल के सभी लेखकों में घरेलू भाषा की जो मिठास मिलती है उस पर भी क्षेत्रीय उपबोलियों की मदिर छाप है—जैसे-सदल मिश्र की भाषा में भोजपुरीपन, लल्लूलाल की भाषा में ब्रजरंजना, सदासुखलाल की भाषा में दिल्ली की सफाई, भारतेंदु और प्रेमघन की भाषा में बनारसीपन, प्रतापनारायण मिश्र की भाषा में बैसवाड़ीपन विद्यमान है। अतः यह सुस्पष्ट हो जाता है कि ये कवि "उर्दू—साहित्य भाषा—घरेलू बोली," की त्रिधारा का समन्वय करने में निरंतर सचेष्ट रहे और काफी सफल भी हुए। भारतेंदु सबसे अधिक प्रतिभाशाली थे, अतः उनका बनारसी गद्य आदर्श हो गया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार दांते के जन्म स्थान की भाषा 'दिवाइन कॉमेदिया' में व्यवहृत होकर इटली की राष्ट्रभाषा हो गई या तुलसी की 'अवधी' महाकाव्यों का आदर्श।

इस प्रकार राजा शिवप्रसाद पर भाषा संबंधी लांछन लगाना एक गलत दृष्टिकोण होगा। उन्होंने अपना लक्ष्य पठन-पाठन का विस्तार रखा था। उनके सम्मुख हिन्दुस्तानी तहजीब और इंशा अल्लाखाँ की परंपरा थी; शिक्षाविभाग के इंस्पेक्टर होने के नाते उनका सम्पर्क उर्दू-फारसी बोलने वाले पढ़े लिखे पंडित मौलवियों से भी होता था, सरकारी अफसर होने के नाते वे अंग्रेजी सभ्यता तथा संस्कृति के भी कायल थे; अतः उन्होंने साहित्यिक भाषा के बजाय व्यावहारिक भाषा

का एक शक्तिशाली रूप सामने रखा। अतः विदेशी भाषा, फारसी और संस्कृत तथा बोलियों के बीच वे व्यापकुता को ग्रहण करते गए न कि कलात्मकता को। कलात्मक (साहित्यिक) भाषा के रूप में हम 'राजा भोज का सपना' को स्वीकार करते हैं। यह निबंध एक साथ ही साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मूल्यांकन का एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसे उपर्युक्त पृष्ठ-भूमि में ही समझा जा सकता है।

'राजा भोज का सपना' राजा साहब की शुद्ध और साहित्यिक हिन्दी का नमूना है। एक ओर तो गोविन्द रघुनाथ थत्ते के संपादकत्व में निकलने वाले अपने 'बनारस अखबार' (१८४५) में वे देवनागरी लिपि में उर्दू भाषा ही लिखते थे, दूसरी ओर 'तिमिरनाशक' की शैली में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग करते थे और तीसरी ओर 'मानवधर्म सार' या उपर्युक्त निबंध की परंपरा में सुंदर भाषा भी लिखते थे। उनके संग्रहों, टिप्पणियों आदि से यह भलीभांति सिद्ध होता है कि अंतिम शैली को ही वे साहित्यिक भाषा मानते थे। उनके रचना-क्रम में जो संकटापन्न विभिन्न शैलियों का प्रयोग है वह उनके व्यापक लोक-सम्पर्क साथ ही सामंती मनोवृत्ति का परिचायक है।

इस निबंध में एक साथ राजा लक्ष्मणसिंह की शैली तथा सैयद इंशाअल्लाखाँ की सैलानी रसिक-समाज प्रिय चटकीली सानुप्रास-जैसी शैली की प्रियता का मेल है। इसके अलावा लोकनीति, लोक-तत्त्व और लोक-शैली का भी उपयोग है जो जनता की अभिरुचियों और काव्य-शैलियों की ओर भी संकेत करती है। अंततः इसमें परिचयात्मकता, शुद्ध कल्पना, प्रतीक पात्रता, नाटकीयता, उपदेशात्मकता के तत्त्व अपने सर्वांगीण तथा अपरिमार्जित रूप में उपस्थित होना तत्कालीन समाज-संस्कारों की भी झाँकी देते हैं। इस प्रकार यह चार प्रकार से महत्त्वपूर्ण है।

इस निबंध का विषय उतना ही पुराना है जितनी मध्यकालीन संस्कृति। किन्तु इस संस्कृति और इसके प्रतीक राजा भोज की व्याख्या नये क्रांतिकारी दृष्टिकोण से की गई है जो उनके लोकनीति के प्रति झुकाव को स्पष्ट करता है। यह निबंध बताता है कि उन्हें पूर्णतः सामंती और राजभक्तिपूर्ण परिवेश में जकड़ना भी अनैतिहासिक है। भाषा, आदर्श और शैली तीनों दृष्टियों से यह निबंध भारतेंदु-चेतना का पथेरदावी मालूम होता है। इसमें दानवीर राजा भोज के दान, उदारता और पुण्यों की महानता का विश्लेषण, सामाजिक मूल्यांकन के परिवर्तन की घोषणा करता है और परोक्ष रूप में राजभक्तों और चापलूसों पर भी पैना प्रहार करता है, (जिसके शिकार वे स्वयं भी रहे थे)। यहाँ मूर्तिमान सत्य आकर पर्दाफाश करता चलता है कि राजा भोज ने जितने भी कर्म किये हैं वे केवल व्यक्तिगत स्वार्थ, अहंकार और निजी प्रतिष्ठा के लिये थे। इन 'प्रदर्शनात्मक' सेवा-कार्यों के अतिरिक्त राजा ने निरीह और निराश्रित लोगों को यातनाएँ पहुँचाई होंगी, उन पर कटूक्तियाँ बरसाई होंगी। अतएव सत्य की इजलास में राजा भोज गुनहगार हैं। . . . . . . राजा भोज की स्वार्थ-प्रतिष्ठा तथा पापों की गाथा गा-गाकर सत्य बार बार स्वप्न-सा लुप्त होकर मानों पुराने नैतिक मूल्यों के झूठेपन तथा सही विश्लेषण के अभाव का द्योतक है। राजा भोज तथा सत्य-स्वप्न की प्रक्रिया यह भी बतलाती है कि हठात् ही राजा शिवप्रसाद

लोक-चेतना को शिक्षित करने के साथ-साथ सामंतों के नये-सिरे से परखने की लोक-प्रवृत्ति के दर्पण भी हो गए हैं।. . . . . .इस पुनर्मूल्यांकन में अंग्रेजी प्रजातंत्रवादी तथा बुद्धिवादी प्रभाव स्पष्ट हैं।

'प्रबोधचंद्रोदय'-शैली में सत्य का मूर्त हो होकर आना, इस निबंध को टैकनीक की दृष्टि से फैंटेसी—गाथा भी बनाता है और पंचतंत्र की परंपरा में––वर्णनों की अलौकिक चमत्कारिता से भी अपनी कड़ी जोड़ता है। यह प्रतीक-पात्रों की भी सृष्टि करता है। इनमें सत्य प्रमुख है। वस्तुतः कथोपकथन के रूप में कथाभास कराते हुए निबंध लिखने का रिवाज उस समय चल पड़ा था और इसका निर्वाह भारतेंदु मंडल के कुछ निबंधों में भी मिलता है। इस तरह लगता है कि तत्कालीन साहित्य में—यहाँ तक कि राजा साहब के इस चुने हुए निबंध में––लोकरुचि को भी अलग नहीं किया जा सकता था। 'किस्सा तोता मैना,' 'छबीली भठियारिन,' 'लवंगलता' आदि की शैली भी लोक-रुचि की एक सहज तथा सबल साधना और साधन थी। इस निबंध में विषय, पात्र, शैली आदि तो प्राचीन हैं किन्तु भाषा नवीन; विषय की व्याख्या भी सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों से परोक्ष ढंग से प्रेरित है। इसमें परोक्ष रूप से ह्रासोन्मुख भारतीय रजवाड़ों की सहिष्णुता एवं अंग्रेजों के बहु प्रचारित समाज-कल्याण का झूठापन उभर आया है।

इसका वर्णन भी राजा साहब की सांस्कृतिक-प्रेरणा का निकटतम और जीवंत स्रोत प्रकट कर देता है। हमें लगता है कि राजा साहब इतिहास को तिमिराच्छादित करते हुए भोजकालीन युग में न जाकर किसी मुग़लकालीन ज़नाना महल या किसी राजपूत राणा के राजमहल में पहुँच गए हैं। इससे प्रगट है कि वे राजा लक्ष्मणसिंह की तरह कालिदास के युग या सदल मिश्र की तरह पूर्वपौराणिक युग के स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। उनके सांस्कृतिक-पैटर्न की कल्पना स्थूल और सीमित थी। उस युग के वातावरण की सृष्टि में पूर्णतः अक्षम यह निबंध उनके दरबारी परिवेश को तो सूचित करता ही है किन्तु भाषा की अभिव्यंजना की शक्ति का भी उद्घाटन करता है। समृद्ध वर्णनात्मकता से पूर्ण इस निबंध में इंशाअल्ला खाँ की तरह शब्दों की फिजूलखर्ची और जौहरी जैसा जड़ाऊपन भी प्रकट है––जड़ाऊ पलँग, फूलों की सेज, संगमरमर का मंदिर, हाथीदांत की पच्चीकारी, लालों के गुलाल, नीलम की बुलबुलें, हीरों के लोलक, पुखराज की डंडियाँ, हौजों में गुलाब और केवड़े के छूटते फुहारे, कपूर के दीपक, रानियों का पैर दाबना, रत्नजटित सिंहासन, आदि आदि उनके सीमित ज्ञान और सामंती संस्कारों को अनावश्यक रोमांटिकता की असफल सृष्टि की ओर ही ले जाते हैं।

कथावस्तु का गठन भी 'कथा'-'मणिकुल्या' के ढर्रे पर प्रतीत होता है, जिसमें लोक-तत्त्वों की अद्भुत प्रतिष्ठा है। इसका गठन राजा विक्रम और उनके सिंहासन की पुतलियों वाली कहानी के आधार पर हुआ लगता है। इसमें सत्य अपने स्पर्श से ही दान, न्याय और तप के वृक्षों को नष्ट कर देता है; फिर राजा को जानवरों के लोक में ले चलने के बाद मंदिर की ओर भी जाता है और चमत्कार दिखाता है। इन सभी प्रसंगों में प्रतीकात्मकता, चमत्कार और फैंटेसी के लोकतत्त्वों की प्रमुखता है। यह फारसी, उर्दू की तिलिस्मी परंपरा से भी संबंधित-सी हो जाती हैं। इन दोनों के

तकनीकी संयोग ने देश-काल की स्थिरता भंग की है और कथोपकथनात्मक शैली ने इसे आख्यात्मक––निबंध बना डाला है। इन्हीं कारणों से इसमें निबंध और आख्यान की स्पष्ट सीमाएँ तिरोहित होती प्रतीत होती हैं। वस्तुतः आधुनिक गद्य की तरह से आधुनिक कहानी का आरंभ भी (जो भारतेंदु युग के उत्तरकाल से हुआ) पंचतंत्र आदि से न मानकर ऐसे और आख्यानक निबंधों से ही मानना चाहिए। 'राजा भोज का सपना' इस दिशा में भी एक प्रवर्त्तक स्थान पाने का अधिकारी है।

इस पर दूसरा प्रभाव तत्कालीन पारसी नाटक कंपनियों की ढोल-ढमाके-शेरों-ललकारों-नाचों का है। वार्तालापों में पुराने ढंग की ललकारें (–'हे भोज, अगर कुछ हिम्मत रखता है तो मेरे साथ आ,....मूर्ख तेरे तप के फल कदापि नहीं'), सत्य की दर्पोक्तियाँ उस युग की अतिशय नाटकीयता की ही अभिव्यक्ति हैं, जहाँ दो संस्कृतियों का संघर्ष ही नहीं एक ही व्यक्ति के दो व्यक्तित्वों की भी टकराहट जोरों पर थी, जिसका परिष्कृत और उग्रतर रूप भारतेंदु मंडल के नाटकों के वार्तालापों, व्यंगों तथा समस्याओं में मिलता है। इस निबंध में अनजाने ही राजा साहब विक्टोरिया-कालीन शासन की गुणात्मक छानबीन कर गए हैं यद्यपि जानेमाने तौर पर वे सरकार के बहुत बड़े हिमायती थे। इसमें उस शासन के पिट्ठू लोगों की तस्वीर और 'दान'-'न्याय'-'तप' के तीन फल अर्थात् तत्कालीन ढोंगी शासन का खाका है।

मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग की भी कुछ सामाजिक अवस्थाएँ होती हैं। जब साहित्य लोकनीतियों से जुड़ा होता है, या जब साहित्यकार लोक-जीवन से उभर कर आता है, या जब लोक-जीवन बहुत महत्त्वपूर्ण होता है अथवा जब समाज में दो वर्गों का उग्र द्वंद्व शुरू होने लगता है तब इनकी बहुलता होती है। भारतेंदु-युग और प्रेमचंद के साहित्य बनाम द्विवेदी युग तथा प्रसाद के साहित्य की तुलना से यह बात प्रगट हो जाती है। इस निबंध में राजा साहब ने यह उपयोग डटकर किया है और 'दमयंती की कथा' में तो यह प्रौढ़तम रूप को पहुँच गया है। हाँ, भाषा में अनुप्रास की चमक और तुक की झमक दिखाने का व्यसन, मसनवीपन, थियेटरपन तथा लोकतत्वों के कौशल के मेल का प्रतिनिधि है। अनुप्रास और तुक की छटा का एक नमूना यों है:—

"बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते, सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और खजाना उसका सोने-चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया। कोई उसके राज्य भर में भूखा न सोता और न कोई उघाड़ा रहने पाता।"

दूसरा नमूना साधारण लोकरुचि तथा अनुकूल बोलचाल की मिठास से पूर्ण भाषा का लीजिए:—

"जड़ाऊ पलंग और फूलों की सेज पर सोया। रानियाँ पैर दबाने लगीं। राजा की आँख झप गई तो स्वप्न में क्या देखता है कि वह संगमर्मर का मंदिर बनकर बिल्कुल तैयार हो गया (।) जहाँ कहीं उस पर नक्काशी का काम किया है वहाँ उसने बारीकी और सफ़ाई में हाथी दांत को भी मात कर दिया है।"

आश्विन-मार्गशीर्ष १८८२ शक]

तीसरा नमूना कृत्रिमता के बोझ से झुका है, जो राजा शिवप्रसाद के साहित्यिक शोधन के प्रयत्न का संकेत है :—

"एक दिन शरद्ऋतु में संध्या के समय सुन्दर फुलवाड़ी के बीच स्वच्छ पानी के कुंड के तीर जिस कुमुद और कमलों के बीच जलपक्षी किलोलें कर रहे थे, रत्नजटित सिंहासन पर कोमल तकिये के सहारे स्वस्थचित बैठा हुआ वह महलों की सुनहरी कलसियाँ लगी हुई संगमर्मर की गुमजियों के पीछे से उदय (?) होता हुआ पूर्णिमा का चन्द्रमा देख रहा था—"

यह उदाहरण तत्कालीन अतिगर्वीली दरबारी झलक, लोक-रुचि के सौन्दर्यमान और कुतूहलतत्त्व तथा साहित्यिक कृत्रिमता तीनों को व्यंजित करते हैं जो स्वयं लेखक की वैयक्तिक समस्याओं के साहित्यिक प्रतिबिंब हैं। अंत में लेखक पाठक जनों को संबोधित कर सन्मार्ग पर चलने का आशीर्वाद देता है।

इस प्रकार यह निबंध साहित्यक दृष्टि से अधिक सांस्कृतिक दृष्टिकोण का केंद्र-बिंदु है—जहाँ राजा साहब के व्यक्तित्व के अंतर्विरोध, तत्कालीन समाज की सांस्कृतिक द्वंद्वावस्था और भाषा के उपयोगी बनाम सौन्दर्यात्मक होने के विवाद पल्लवित हैं। हमारे साहित्य में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' के संबंध में जो मूल्यदृष्टि बनी है वह सामाजिक नैतिकता से आक्रांत होने के कारण सौंदर्यात्मक पक्ष, समाजशास्त्रीय समस्या और सांस्कृतिक परिवेश का नीर-क्षीर-विवेक करते समय पक्षपात कर देती है।

ऊपर हमने स्पष्ट किया है कि राजा शिवप्रसाद हिंदू-कट्टरता तथा मुसलमान कट्टरता दोनों से लड़ते हुए हिंदी-उर्दू के मेल से बनी हिन्दुस्तानी में अपने भाषा-सिद्धांत को मूर्त्त रूप देते हैं। किन्तु वे साहित्य-भाषा के रूप के विषय में भी पूरी तरह सुस्पष्ट हैं। वस्तुतः वे पूर्ववर्ती युग की राजभाषा उर्दू और आधुनिक युग की जनभाषा एवं साहित्य भाषा खड़ीबोली की संधि पर हैं। वे उर्दू की कड़ी को तोड़कर या लाँघकर (राजा लक्ष्मणसिंह की तरह) लुप्तप्राय संस्कृत परंपरा की ओर नहीं मुड़े। उनके विषय में पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है।

—(डा०) रमेश कुंतल मेघ, चंडीगढ़

० ० ०

सूफीमत के प्रमुख प्रेममूलक प्रतीक एवं जायसी

सूफी प्रतीकों की आधारभूमि, सामान्यतः प्रतिबिंबवाद एवं इस्लामी एकेश्वरवाद है। इसके अतिरिक्त इनके प्रतीकों में वेदांत-दर्शन का भी प्रभाव लक्षित होता है। कुछ तो उनके ऐसे साधनापरक प्रतीक हैं जो निजी उनके हैं, पर उनका कोई न कोई रूप भारतीय दर्शन में भी प्राप्त होता है यथा मुक़ामात, अवस्थायें, अल्लाह की धारणा, कुन, फना (मोक्ष) आदि। दूसरे प्रकार के प्रतीक शुद्ध इस्लामी हैं (सूफी) जिनका सीधा सम्बंध ईरान आदि देशों से है, जैसे नूर, साक़ी, शराब आदि जिनका विवेचन यहाँ अपेक्षित है।

सूफियों का परमतत्व सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है जिसे दार्शनिक भाषा में सर्वात्मवाद कहते

हैं।[1] यही उपनिषदों का अद्वैत दर्शन है जो सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को देखता है, सबसे एकात्म-भाव की अनुभूति करता है। अतः परमतत्त्व अल्लाह ब्रह्मांड से परे भी है और उसके साथ भी है, क़ुरान और सूफी दोनों विचारधाराओं में ईश्वर की जगत्लीनता (Immanence) का समान महत्व है।[2] जब हम एकेश्वरवाद का विश्लेषण करते हैं तो उसमें भी सृष्टि का महान देवता 'शून्य' से अपना विस्तार करता है और वही पालन तथा संहार करता है। अतः यदि एकेश्वरवाद में ईश्वर जगत में "पृथक्" है तो प्रतिबिंबवाद में वह जगत से "परे" है और साथ ही उसमें व्याप्त भी। मेरे विचार से सूफी काव्य के अधिकांश प्रतीक इन दोनों सिद्धांतों के समन्वय पर आश्रित हैं और यही कारण है कि सूफी प्रतीकों में भारतीय अद्वैत-दर्शन का भी तिल-तंदुल रूप प्राप्त होता है। अतः सूफियों का प्रतिबिंबवाद, एकेश्वरवाद, सर्वात्मवाद सभी सिद्धांत अद्वैत-भावना पर ही आश्रित हैं और यही कारण है कि सूफियों का रहस्यवाद इन सब तत्त्वों की मिलीजुली अभिव्यक्ति है। इस प्रवृत्ति में ईरानी रहस्यवादी प्रवृत्ति का भी योग है। प्रेम भाव की प्रगाढ़ अनुभूति के कारण इस रहस्यवादी परम्परा में सूफी साकी, शराब और प्याले का भी समुचित स्थान है। इन प्रतीकों की धारणा में भावात्मक तथा साधनात्मक तत्त्वों का सुंदर समन्वय हुआ है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि इन प्रतीकों का प्रयोग प्रेम-साधना की अभिव्यक्ति में उस तत्त्व-चिंतन का प्रतिरूप है जिसमें प्रेमी-साधक और प्रेमपात्र-साध्य का तात्त्विक सम्बंध दृष्टिगत होता है। यह प्रेम-साधना 'रति' तथा 'काम' पर ही आश्रित है जो माधुर्यपूर्ण है। इसी कारण से, सूफियों के आलम्बन प्रायः किशोर ही होते हैं क्योंकि रति का जितना मोहक एवं उल्लासपूर्ण सम्बंध किशोरावस्था या यौवनावस्था से हो सकता है, उतना कदाचित् अन्य अवस्थाओं से सम्भव नहीं है। माशूका एवं साक़ी पर्यायवाची शब्द-प्रतीक है जो सूफ़ी प्रेमपरक साधना में 'रति' (आध्यात्मपरक) के आलंबन होने के कारण परमात्मा या खुदा के प्रतीक माने गए हैं। हिन्दी सूफ़ी काव्य में साकी का वर्णन अपरोक्ष रूप से ही गृहीत हुआ है, उसका अन्तर्भाव कवियों ने 'प्रेमिका' के स्वरूप में ही सुंदरता से किया है। जब माशूका (साक़ी) प्रतीक है तब उसके अंग-प्रत्यंग भी प्रतीकात्मक-अर्थ के द्योतक माने गए। जिन सूफी-कवियों ने भारतीय कथानकों को लिया है, उन्होंने नायिका के नख-शिख अंग-अंग को लोकोत्तर अर्थ देने का भरसक प्रयत्न किया है। यह तथ्य इस बात को स्पष्ट करता है कि उन्होंने भारतीय नामधारी नायिकाओं को फारस के साकी या माशूका के रूप में चित्रित करने का भी प्रयत्न किया है।

साक़ी का कार्य है 'मैं' (शराब) का पिलाना। यह 'मैं' एक तात्त्विक अर्थ की ओर संकेत करता है जिसका प्रतीकार्थ उल्लास है, अमृत है[3]। भारतीय शब्द जो उसका 'पर्याय' माना जा सकता

---

१. सूफी काव्य संग्रह, सं० परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २०
२. स्टेडीज इन तसव्वुफ, द्वारा ख़ाजा ख़ान, पृ० १७
३. तसव्वुफ और सूफी मत, द्वारा चंद्रबली पांडेय, पृ० १०७

है, वह सोम है जो अमरता या अमृत का प्रतीक है। यह 'मैं' ही वह माध्यम है जिसके द्वारा साधक और साध्य, परमात्मा और आत्मा में सम्बंध स्थापित होता है, वह 'शराब' के द्वारा ही अतीन्द्रिय जगत में पहुँच जाता है और अपने 'परमप्रिय' से एकात्म भाव की अनुभूति करता है। साधक या प्रेमी इस आनदांनुभूति में एक प्रकार से 'फना' की दशा में पहुँच जाता है। सूफियों ने ईश्वर के चार गुण माने हैं——जात, ज़लाल, ज़माल और क़माल जो क्रमश: शक्ति, ऐश्वर्य, माधुर्य एवं अद्भुत के रूप हैं। इन चार गुणों में से साक़ी जमाल का प्रकटीकरण है जो साधक को सुरा के द्वारा अनुभूति-जन्य होती है। इसी माधुर्य भाव से ऐश्वर्य तथा रहस्य-भावना का भी स्वरूप मुखर होता है।

यह साक़ी, मैं और प्याला——सूफी साधना के आधार स्तम्भ है। हिन्दी के सूफी कवियों ने इन्हें ग्रहण तो अवश्य किया है, पर उनके काव्य में केवल ये ही वस्तुएँ नहीं हैं——इसके अतिरिक्त उनमें और कुछ भी है। अत: यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सूफी काव्य का एकमात्र ध्येय अपने काव्य को प्रियतमा, शराब और प्याले से ही आबद्ध करना नहीं था वरन् अपने काव्य को जीवन और जगत के कठोर सत्य पर भी आश्रित करना था जो भारतीय महाकाव्यों की एक प्रमुख विशेषता रही है। यही कारण है कि सूफी काव्य में इन प्रतीकों का प्रयोग प्रसंगवश हुआ है, उनका वहाँ पर स्थान तो है पर एकछत्र साम्राज्य नहीं है जैसा कि हमें उमर खैयाम, अत्तार, हाली में प्राप्त होता है।

जायसी ने अपने काव्य में नायिका को प्रियतमा का रूप दिया है। पद्मावती को प्रियतमा के रूप में चित्रित करते हुए, रत्नसेन के समागम पर, कवि ने "मिलन-शराब" का ज़िक्र किया है——

विनय करहिं पदमावति बाला।
सुधि न सुराही पियऊँ पियाला।।[1]

इस कथन में सुरा का संकेत तो अवश्य है, पर साक़ी का रूप नितांत, भारतीय प्रभाव के क़ारण पृष्ठभूमि में चला गया है। फ़ारस आदि देशों की साकी कभी विनय नहीं करती है, परन्तु जायसी ने भारतीय प्रभाव के कारण नायिका को भी नायक के समान प्रेम-विह्वल दिखाया है। यह जायसी की समन्वयकारी प्रवृति का ही फल है।

आनंद का 'रस' पीना ही मिलन के समय ध्येय होता है, तभी साधक का मन, उसकी इंद्रियाँ तथा आत्मा एकात्म भाव का आनंद प्राप्त करती हैं। तभी तो नूर मोहम्मद ने कहा है——

दे मदिरा भर प्याला पीवौं।
होइ मतवार काँथर सीवौं।।[2]

साधक का बस यही लक्ष्य है कि उसे एक भरा हुआ शराब का प्याला मिल जाय तो उसका मानस जगत प्रियतम के चरणों पर लोटने लगे——

----

१. जायसी ग्रंथावली, पद्मावती रत्नसेन भेंट खंड, पृ० १६०
२. इंद्रावती, द्वारा नूरमोहम्मद, पृ० २२, स्वप्न खंड

एक पियाला भरि भरि दीजै।
झेल पियारि मानस लीजै॥[1]

यही भावना जायसी में भी प्राप्त होती है जब वह केवल मात्र सुरापान की इच्छा करता है—देनेवाले के स्वरूप से उसे सरोकार नहीं है—

प्रेम-सरा सोइ पै पिया। लखै न कोई कि काहू दिया॥[2]

साधक की केवल यही इच्छा है कि उसके रोम-रोम में यह शराब इस तरह से व्याप्त हो जाय कि उसे बार-बार माँगने की भी आवश्यकता न पड़े।[3] इसी प्रकार नूर मोहम्मद ने इस प्रेम-सुरा को रात और दिवस पीने की बात कही है जिससे मन बलवान् हो जाय।[4] तथ्य तो यह है कि मानसिक दृढ़ता के बिना साधक प्रियतम के निकट पहुँच ही नहीं सकता है, इसी सत्य को ध्यान में रखकर नूर मोहम्मद ने "मन के बलवान" होने की ओर संकेत किया है।

इस प्रेम-मदिरा का संकेत रूमी ने भी किया है। वह कहता है—"मैं प्रेम की मदिरा पान कर मदमस्त हो गया हूँ। दोनों जहाँ को त्याग चुका हूँ।"[5] इसी मदिरा को पीकर जीवात्मा परमात्मा के महाअस्तित्व से सम्बन्ध स्थापित करती है। इसी भाव को विदेशी सूफ़ी कवि शब्सतरी ने इस प्रकार व्यंजित किया है—"तू यह मदिरा पी जिससे अहंकार को भूल जाय और समझने लगे कि एक बूँद का अस्तित्व उस महासागर के अस्तित्व से संबंध रखता है।"[6] इन उदाहरणों से यह स्पष्ट भासित होता है कि हिंदी सूफ़ी कवियों और ईरान के सूफ़ी कवियों के भावों में कितना साम्य है? परन्तु इस साम्य के होते हुए भी सुरा का एक अन्य अर्थ भी हिंदी में प्राप्त होता है जो विप्रलंभ श्रृंगार से सम्बंध रखता है, जो कदाचित् विदेशी कवियों में नहीं प्राप्त होता है—

बहुत वियोग सुरा मैं पीया।
संयोगी मद चाहत हीया॥[7]

इसी प्रकार जायसी ने सुरा का प्रयोग एक अत्यंत रहस्यमय रूप में किया है। उसने सात समुद्रों के वर्णन-प्रसंग में सुरा समुद्र का भी संकेत किया है— "इसको पान करने-

----

१. वही, पाती खंड, पृ० ७८
२. जायसी ग्रंथावली, रत्नसेन पद्मावती भेंट खंड, पृ० १६०
३. वही, पृ० १६१
४. इंद्रावती, मानिक खंड, पृ० १३९
५. ईरान के सूफी कवि, सं० बाँकेबिहारीलाल, पृ० १८८
६. वही, पृ० २९०
७. इंद्रावती, पृ० १७६

वाला व्यक्ति "भाँवरि" लेने लगता है"[1] इस कथन के द्वारा उसने सुरा को एक मुकाम का ही रूप प्रदान कर दिया है। जैसा कि प्रथम संकेत हो चुका है कि शराब का महत्व इसी में है कि वह आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी को कम करती है अथवा दोनों को मिलाती है, उसी प्रकार सुरा समुद्र भी सात मुकामातों में वह मुकाम है जिसे पार करने पर साधक "प्रियसाध्य" से मिलनानंद की दशा तक पँहुचता है। **अतः इन सब प्रयोगों के आधार पर यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हिंदी के सूफ़ी कवि जायसी ने (अन्यों ने भी) "सुरापान" के प्रचलित तात्त्विक अर्थ में अन्य अर्थों का भी समन्वय किया है, परंतु यह समन्वय इतना सूक्ष्म है, इतना अपरोक्ष है कि धरातल पर दृष्टिगत नहीं होता है।**

साक़ी का सुरा से अन्योन्य सम्बंध है। हिंदी सूफ़ी कवियों ने अपनी नायिकाओं––पद्मावती तथा इंद्रावती आदि--को उसी की भावभंगिमा में रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया है। फिर भी, सूफ़ी कवियों ने उनकी भावना में (जायसी में) समानताओं के अतिरिक्त अनेक नव तत्त्वों का भी समाहार किया है। जहाँ तक विदेशी सूफ़ी कवियों का प्रश्न है, उसमें भी प्रिया का रूप अत्यंत मुखर है जो उसके प्रतीक रूप की ओर संकेत करता है। जायसी में और विदेशी सूफी कवियों में सबसे बड़ी समानता यही है कि दोनों धाराओं में 'प्रियतमा' का स्वरूप मूलतः रतिपरक है अथवा अधिक व्यापक अर्थ में कहें तो उनका रूप अनुभूतिपरक है जिसमें तत्व और रूप content and form का सुंदर समन्वय प्राप्त होता है। दूसरी प्रमुख समानता जो दोनों धाराओं में प्राप्त होती है, वह है नायिकाओं के नख-शिख एवं विभिन्न अंगों को लोकोत्तर रूप प्रदान करना। इस दिशा में यह कहा जा सकता है कि भारतीय सूफ़ी कवियों ने ईरान तथा फ़ारस के कवियों की परम्परा को यथोचित रूप से ग्रहण किया है। उदाहरण स्वरूप केश को ले सकते हैं। सूफ़ी मान्यतानुसार प्रियतमा के केश माया के प्रतीक हैं––इस तथ्य की प्रतिध्वनि जायसी ने पद्मावती के रूप-वर्णन प्रसंग में इस प्रकार की है:—

बेनी छोरि झारि जो बारा।
सरग पतार होइ अँधियारा।।[2]

यह माया का ही अंधकार है जो स्वर्ग तथा पाताल सर्वत्र व्याप्त है। इससे भी स्पष्ट संकेत एक स्थान पर प्राप्त होता है—

ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा।
नागिन झाँपि लीन्ह चहुँ पासा।।
ओनई घटा परी जग छाहां।
ससि कै सरन लीन्ह जनु राहां।।[3]

----

१. जा० ग्रं०, सात समुद्र खंड, पृ० ७६
२. जा० ग्रं० नखसिख वर्णन, खंड, पृ० ४९
३. वही, मानसरोदक खंड, पृ० २८

माया के इस छांह् का क्षेत्र कितना विस्तृत है, इसकी व्यंजना इस प्रकार की गई है —

अस फँदवार केस कै परा सीस गिउँ फाँद।
अस्टौ कुटी नाग सब अरुझि केस के बांद।।[1]

इसी भाव का संकेत नूर मोहम्मद ने भी इंद्रावती के सौदर्य-वर्णन में सखियों के द्वारा करवाया है —

एक कहा लट नागिन कारी।
डसा गरल सो गिरा भिखारी।।[2]

अथवा —

अब जूरा इंद्रावति खोला।
भयेउँ घटा में चंद्र उँजेला।।[3]

इन सभी उदाहरणों में केश के प्रतीकार्थ की ओर संकेत प्राप्त होता है एवं संसार पर उसके एकमात्र प्रभुत्व का भी संकेत मिलता है। विदेशी सूफ़ी कवि हाफिज़ ने भी केश का वर्णन इसी अर्थ में किया है —

"तेरी काली अलकों के जाल में यह हृदय जाकर अपने आप फँस गया।"[4]

इससे भी स्पष्ट रूप एक अन्य स्थान पर प्रकट हुआ है—

"अपने मुख पर से अलकों को हटा ले जिससे तेरे रूप-सुधा को पीकर संसार चकित हो जाय और प्रेम से मतवाला हो जाय। तुम्हारी प्रत्येक लट में पचास-पचास फंदे पड़े हुए हैं। भला यह टूटा हुआ हृदय उनसे किस प्रकार जीत सकता है।[5]

इन सब प्रतीकात्मक संदर्भों के प्रकाश में यह स्पष्ट हो जाता है कि जायसी तथा अन्य कवियों में प्रियतमा का रूप इतना व्यक्तिगत नहीं है जितना विदेशी सूफी कवियों में प्राप्त होता है। जायसी ने जैसे केश-वर्णन के द्वारा व्यक्तिगत रूप के साथ-साथ उस विस्तृत क्षेत्र की व्यंजना प्रस्तुत की है जो समस्त चराचर प्रकृति को 'केश' की सापेक्षता में अत्यंत मुखर कर देता है। यह बात केवल केश के बारे में ही सत्य नहीं है, पर अन्य अंगों के वर्णन में इसी प्रकार की प्रवृत्ति लक्षित होती है —

---

१. वही, नखशिख खंड, पृ० ४७
२. इंद्रावती, फुलवारी खंड, पृ० ६०
३. वही, नहान खंड, पृ० ९०
४. ईरान के सूफी कवि, पृ० ३२२
५. वही, पृ० ३४८–३४९

चतुरवेद मत सब ओहि पाही।
रिजु, जजु, साम अथर तन माही।।
एक एक बोल अरथ चौंगुना।
इंद्र मोह, बरह्मा सिर धुना।।
अमर भागवत पिंगल गीता।
अरथि बूझि पंडित नहि जीता।।[1]

यहां पर मानों साक़ी का पूर्ण भारतीयकरण कर दिया गया है और उसे एक तात्त्विक रूप में व्यंजित किया गया है। तात्त्विक दृष्टि से, परमतत्त्व से ही वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है जिनका एक एक शब्द अनेक अर्थों का व्यंजक है। यह तो हुआ प्रियतमा की वाणी का विस्तृत प्रतीकार्थ। इसी प्रकार दंतपंक्ति पर जायसी का कथन लोकोत्तर अनुभूति को अत्यंत स्पष्ट रूप प्रदान करता है—

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानिक मोती।।[2]

इसी तरह की उक्ति बरुनी पर भी है जो प्रतीक रूप को स्पष्ट करती है, कि उस प्रियतमा के दृष्टि-वाणों से सारा संसार बिंधा हुआ है; दूसरे शब्दों में प्रिया का 'नूर' समस्त जगत में व्याप्त है।

ओहि बानन्ह अस को जो न मारा।
बेधि रहा सगरौ संसारा।।[3]

इन सब उदाहरणों से स्वयं सिद्ध है कि सूफ़ी कवि जायसी ने किस प्रकार भारतीय प्रियतमा में साक़ी के तत्त्वों का समन्वय किया है। मानसिक क्रियाओं में जहां एक ओर विश्लेषण की प्रवृत्ति होती है, वहीं पर विश्लेषित तत्त्वों में समन्वय की प्रवृत्ति भी लक्षित होती है। इस विश्लेषण एवं समन्वय में चेतन तथा अचेतन क्रियाओं का समान महत्व रहता है। साक़ी या प्रिया की धारणा में मानसिक क्रियाओं की समन्वयात्मक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। दूसरी ओर जायसी आदि में इस मानसिक क्रिया की अभिव्यंजना आध्यात्मपरक हो गई है। अतः सूफ़ी काव्य में साक़ी का नायिका रूप (प्रियतमा), तात्विक दृष्टि से, आध्यात्मिक मनोविज्ञान का सुंदर विकास कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त सूफ़ी काव्य में नायिका की भावना में अनेक नवमूल्यों का भी समाहार प्राप्त होता है। यह समाहार या तो परिस्थितिजन्य या कथा-रूपक के कारण है। विदेशी सूफ़ी

----

१. जायसी ग्रंथावली, नखशिख खंड, पृ० ५०
२. जायसी ग्रंथावली, नखशिख खंड, पृ० ५०
३. वही, पृ० ४९

कवियों ने प्रियतमा को अधिकतर एकांतिक रूप में ही चित्रित किया है, परंतु जायसी आदि ने उसे जनजीवन एवं समाज की सापेक्षता में चित्रांकन किया है। इसी से, इंद्रावती तथा पद्मावती का स्वरूप अधिक व्यापक अर्थ-समष्टि का द्योतक है। सूफ़ी मान्यतानुसार प्रियतमा एक ऐसा व्यक्तित्व है जो प्रेमी को अपनी ओर प्रत्यक्ष रूप से आकृष्ट करती है, परंतु 'वह' स्वयं उसकी ओर आकर्षित नहीं होती है। इसी प्रकार, केवलमात्र जीवात्मा ही 'उसके' विरह एवं प्रेम में तड़पता है, पूर्वराग की ज्वाला से दग्ध होता है, परन्तु प्रियतमा की ओर से ऐसी चेष्टाओं का अभाव रहता है। इस कमी को भारतीय कवियों ने भारतीय प्रभाव के फलस्वरूप पूरी की। उन्होंने दोनों ओर के प्रेम को, विरह को समान महत्व दिया है। उनका दृष्टिकोण एकांगी नहीं है, उन्होंने अपनी नायिकाओं के द्वारा दो छोरों को एक सरल रेखा में लाने का सफल प्रयत्न किया है। 'पद्मावती' में जहाँ एक ओर प्रेम-भावना का सुंदर विकास प्राप्त होता है, वहीं उसमें कर्म-भावना की सुंदर परिणति है। वह अलाउद्दीन के आक्रमण के समय अपने कर्त्तव्य का निश्चय करती है अथवा राजा रत्नसेन के बंदी हो जाने पर अपने नारीत्व का कर्मप्रधान एवं सतीप्रधान परिचय भी देती है। जो आलोचक यह मत रखते हैं कि जब रत्नसेन तथा पद्मावती का मिलन हो गया तब प्रतीकात्मक दृष्टि से कथा का अंत हो जाना चाहिये था——कथा का उत्तरार्ध किसी भी प्रतीकात्मक संदर्भ को पूरा नहीं करता है। उनके इस मत का उत्तर यहां स्वयं प्राप्त हो जाता है। जायसी आदि ने अपनी नायिकाओं में पूर्ण भारतीय नारीत्व के प्रतीकात्मक अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। कदाचित् इसी हेतु उन्हें कथा के उत्तरार्ध को बढ़ाना पड़ा है। इस विस्तार के मूल में यही तथ्य भासित होता है कि प्रियतमा का एकांतिक रूप भारतीय विचारधारा के प्रतिकूल है, उसे कर्त्तव्यप्रधान रूप में, मानवीय भावनाओं, क्रियाओं एवं संवेदनाओं के संदर्भ में दिखाना भी अपेक्षित है। ठीक है कि आध्यात्मिक मिलन हो गया, और यहां पर 'सब कुछ' समाप्त हो गया। परन्तु क्या जीवात्मा परमपद तक पहुँच कर, माया और संसार आदि के प्रलोभनों में फँस कर, फिर अपनी अधोगति नहीं कर सकती है? यहां पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है जिसकी ओर स्वयं कवि ने ग्रंथ के अंत में अपने अन्योक्ति-कोष में संकेत किया है। वहाँ पर मन रत्नसेन है, बुद्धि पद्मावती है, अलाउद्दीन माया और चेतन शैतान के प्रतीक हैं।[1] मन अत्यत चंचल होता है, वह स्थिर होकर भी फिर चलायमान हो जाता है। क्या विश्वामित्र का मन समाधि में स्थितप्रज्ञ होकर भी, अप्सरा के मनोमोहक वाह्य प्रभावों के द्वारा अपने उच्च स्थान से डिग नहीं गया था? यही हाल रत्नसेन का भी हुआ, वह बुद्धिरूपी पद्मावती से एकाग्र होकर भी, वाह्य प्रलोभनों के कारण (अलाउद्दीन तथा राघव चेतन) माया के जाल में फँस कर अपना अधःपतन कर लिया। **ऐसा ज्ञात होता है कि 'पद्मावत' का उत्तरार्ध इसी मानसिक अधःपतन की करुण कथा है जहाँ मन ऊर्ध्वगामी होकर फिर रसातल का भागी हो जाता है?** यह उत्तरार्ध मन की चलायमान प्रकृति के प्रति साधक को ही नहीं, पर संसार के मनुष्यों को भी चेतावनी देता है। जब मन इस प्रकार

---

१. जा० ग्रं० उपसंहार, पृ० ३४१

अधोगति को प्राप्त हो जाय तब बुद्धि की क्या दशा होगी ? मनोविज्ञान के अनुसार बुद्धि मन से सूक्ष्म है जो 'मन' को अधिकार में रखती है जब मन निरोधात्मक दशा में हो। भगवान कृष्ण ने भी गीता में कहा है कि पदार्थ से इंद्रियाँ सूक्ष्म (परा) हैं, इंद्रियों से मन सूक्ष्म है, **मन से बुद्धि सूक्ष्म है** और जो बुद्धि से भी महान या सूक्ष्म है, वह 'आत्मा' है।[1] यदि बुद्धि की बागडोर ढ़ीली पड़ जाय या मन बुद्धि के अनुशासन से मुक्त हो जाय तो वह क्रमशः वाह्य वासनाओं एवं प्रलोभनों के कारण अपने निजत्व को ही खो देता है। तब निदान बुद्धि भी हताश होकर निश्चेष्ट हो जाती है। एक प्रकार से मानव-बुद्धि मरणप्राय हो जाती है। बुद्धि की इसी करुण समाप्ति की कथा 'पद्मावत' का उत्तरार्ध है और पद्मावती की दीन दशा उस समय साकार हो उठती है जब वह स्वयं अग्नि की लपटों में समा जाती है। **'पद्मावत' की पूर्ण कथा को ध्यान में रखकर** [मन--रत्नसेन; बुद्धि--पद्मावती जायसी के दिये कोषानुसार] **यह कहा जा सकता है कि रत्नसेन और पद्मावती के परस्पर विकास और फिर उन दोनों की अन्योन्य अधोगति की करुण कथा ही यह काव्य है जहाँ मानवीय चेतना में बुद्धि तथा मन का अन्योन्य संबंध—उनका विकास और फिर उनका करुणामय अधःपतन क्रमिक रूप में दिखाया गया है।** मेरे विचार से जायसी ने अपनी 'प्रियतमा' को एक साथ इतने विस्तृत क्षेत्र का वाहक बना कर, उसे जहाँ एक ओर आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों का समष्टि रूप में चित्रांकन किया है, वहीं उसकी धारणा में मानव-जीवन के कर्त्तव्यप्रधान रूप का और ऐतिहासिकता का सुंदर समन्वय प्रस्तुत किया है।

--(डॉ०) वीरेन्द्र सिंह

० ० ०

'शिवभारत' और 'शिवभूषण'

'शिवभारत' और 'शिवभूषण' दोनों रचनाएँ शिवाजी के चरित्र सम्बन्धी एवं उनके गुणगान और कीर्ति सम्बन्धी काव्य हैं। एक संस्कृत में है और दूसरा हिन्दी में। 'शिवभारत' के रचयिता परमानन्द कवि हैं तो 'शिवभूषण' या 'शिवराज भूषण' के रचयिता भूषण कवि। दोनों कवि समकालीन हैं और शिवाजी के आश्रय में रह चुके है। ऐसी स्थिति में दोनों में कुछ समानताओं का होना आश्चर्य की बात नहीं है। दोनों ग्रंथों का तुलनात्मक अध्ययन करने का प्रयास नीचे किया गया है। यह अध्ययन पूरा नहीं है, क्योंकि विस्तार में जाने पर एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जा सकती है। यहाँ केवल विषयवस्तु और ऐतिहासिक आधार को लेकर संक्षिप्त परिचय-मात्र देने का प्रयत्न किया जा रहा है।

'शिव भारत' रचना का काम स्वयं शिवाजी महाराज ने परमानन्द कवि को सौंपा था। इसका उल्लेख कवि ने स्वयं अपने काव्य में किया है—

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता कर्मयोग, पृ० १३२, श्लोक ४२

स एकदात्मनिष्ठं मां प्रसाद्येदमभाषत ॥२५॥
यानि यानि चरित्राणि विहितानि मया भुवि।
विधियन्ते च सुमते तानि सर्वाणि वर्णय ॥२६॥
माल भूपमुपक्रम्य प्रथितं मत्पितामहम्।
कथामेतां महाभाग महनीयां निरूपय ॥२७॥

शिवाजी की कथा ग्रंथ में पूरी नहीं है। केवल सन् १६६१ ई० तक की घटनाओं का वर्णन ग्रंथ में है। कारतलवखाँ को डंवरखिंडी में हराना और उसके बाद शृंगारपुर में प्रवेश तक की कथा ही ग्रंथ में मिलती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रस्तुत ग्रंथ शिवाजी के राज्याभिषेक से बहुत पूर्व लिखा गया। शिवाजी का राज्याभिषेक ६ जून १६७४ ई० (जदुनाथ सरकार के अनुसार) को हुआ और उनकी मृत्यु सन् १६८० में हुई। शिवभारत में १६६१ ई० के बाद की किसी घटना का उल्लेख नहीं है, अर्थात यह रचना इसी वर्ष के आसपास ही पूरी हुई है। 'शिवराज भूषण' के रचयिता ने अपने ग्रंथ का रचनाकाल दिया है, जो इस प्रकार है—

समत सत्रह सेंतीस पर, सुचि बदि तेरसि भानु।
भूखन शिवभूखन कियौ, पढ़ौ सकल सुज्ञान॥
--(संवत १८१८ के हस्तलेख की पुष्पिका)

इस दोहे से स्पष्ट है कि 'शिव भूषण' की रचना संव्त १७३० में पूरी हुई। इसमें भी शिवजी के राज्याभिषेक का वर्णन भूषण ने नहीं किया है क्योंकि राज्याभिषेक 'शिवभूषण' की रचना लिखे जाने के दो वर्ष बाद हुआ है। यदि भूषण का जन्म शिवाजी की मृत्यु के बाद हुआ होता, जैसा कि कुछ विद्वान मानते हैं, तो भूषण राज्याभिषेक के प्रसंग पर कुछ न कुछ अवश्य लिखते। इस सम्बन्ध में और भी बहुत से प्रमाण दिए जा सकते हैं कि भूषण शिवाकालीन कवि हैं और वह शिवाजी के दरबार में रह चुके हैं किन्तु यह प्रसंग विषय से बाहर है। अतः इस समय यह मानकर चलना उपयुक्त होगा कि भूषण शिवाकालीन कवि रहे हैं।

'शिवभारत' की रचना कवि ने महाभारत के रूप में करने का प्रयत्न किया है। कवि का अपना यह विश्वास रहा है कि वह शिवाजी महाराज जैसे तेजस्वी अवतारी विभूति का चरित्र-ग्रंथ लिख रहा है, और उसमें महाभारत के समान राजनीति जैसे गहन विषय का भी अन्तर्भाव कर रहा है। उसकी यह मनोकामना रही है कि इस ग्रंथ को रामायण, महाभारत जैसे ग्रंथों की पंक्ति में स्थान मिले। कवि ने स्वयं अपनी कृति को 'अनुपुराण' कहा है और सिवा इसके इस ग्रंथ को 'पुराणमिवं नूतनं' (अ० श्लोक १८) काशी के मनीषियों के मुख से कहलवाया है। शिवभारतकार का विश्वास रहा है कि सूर्यवंश का लोप नहीं हुआ है। मराठे भोंसले क्षत्रिय हैं, और और सूर्यवंशी है। इस बात का प्रतिपादन ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में किया है—

तं सूर्यवंशमनघं कथ्यमानं मयादितः।
सर्वेऽप्यवहितात्मानः शृणुध्वं शृण्वतां वराः॥४१॥
दक्षिणस्यां दिशि श्रीमान् मालवर्मा नरेश्वरः।
बभूव वंशे सूर्यस्य स्वयं सूर्य इवौजसा॥४२॥

'शिवराज-भूषण' में भूषण ने भी शिवाजी को क्षत्रिय और सूर्यवंशी माना है—

राजत है दिनराज को, बंस अवनि अवतंस।
जामैं पुनि पुनि अवतरैं, कंसमयन प्रभुअंस॥४॥
महाबीर ता बस मैं, भयो एक अवनीस।
लियो बिरद सिसौदिया, दियो ईस को सीस॥५॥ (शि० भू०)

शिवाकालीन चाराग्रंथ ऐसे उपलब्ध हैं जिनमें शिवाजी को अवतारी पुरुष माना गया है (१) कवि परमानन्द कृत—'शिव भारत (२) जयरामापण्डेय कृत पर्णालपर्वत ग्रहणाख्यान (३) रघुनाथ पंडित कृत राजव्यवहार कोश और (४) संभाजी कृत बुधभूषण। इन चारों ग्रंथों में शिवाजी महाराज के अवतारत्व का वर्णन विस्तारपूर्वक करते हुए यह कहा गया है कि शिवाजी विष्णु के अवतार हैं। इन सबके समान ही भूषण ने भी शिवाजी को अवतारी पुरुष कहा है। इससे पहले कि भूषण के सम्बध में कुछ कहा जाय, पहले 'शिवभारत' की अवतार-कल्पना की कथा संक्षिप्त में कह दी जाए। जिस प्रकार और पुराणों में किन परिस्थितियों में भगवान अवतरित होते हैं, इसकी जो सुनिश्चित कल्पना है, उसी कल्पना का अनुसरण शिव-भारतकार ने भी किया है। कथा इस प्रकार है। बहुत पूर्व कलि ने घोर तपश्चर्या की और शंकर को प्रसन्न कर लिया और उनकी कृपा के कारण वह प्रबल होगया। दूसरे जो दैत्य थे वे म्लेच्छों के रूप में पृथ्वी पर अवतरित हुए और उन्होंने सारी पृथ्वी को पादाक्रांत कर डाला। इन म्लेच्छों में यज्ञ की प्रवृत्ति नहीं थी फिर भी कलियुग के प्रभाव के कारण उनका ऐश्वर्य बढ़ता गया और क्षत्रियों का बल क्षीण हो गया। ऐसी स्थिति में म्लेच्छों की पीड़ा से त्रस्त धरती ब्रह्मदेव के पास गई और विनयपूर्वक बोली—

दुष्ट दत्यांतके कृष्णे निजं धामाधितिष्ठति।
बुद्धावतारे भगवत्यपि मौनावलंबिनि॥३८॥ (अ० ५)
दुर्जना यवनास्तात वृजितानि वितन्वते।
त्रातारं नाधि गच्छामि नियच्छेयं कथं व्यथाम्॥३९॥ (अ० ५)

अर्थात्, दैत्यों का नाश करने वाले श्रीकृष्ण अपने धाम को चले गए हैं और बुद्ध ने मौन स्वीकार कर लिया है, इससे दुष्ट यवन पाप कर रहे है, मुझे कोई त्राता नहीं दिखाई दे रहा है। इस शिकायत को सुनकर ब्रह्मा ने धरती को सांत्वना देते हुए कहा कि मैंने इस सम्बन्ध में विष्णु

से प्रार्थना की है और वे अब शाहजी और जीजाबाई के पुत्र के रूप में जल्द ही अवतरित होंगे जिन्होंने धर्मस्थापना का अभिवचन दिया है।

भूषण की अवतार कल्पना भी इसी प्रकार की है—

दारुन दइत हरनाकुस बिदारब को, भयो नरसिंहरूप तेज बिकरार है।
भूषन भनत त्योंही रावन के मारिबे को, रामचंद भयो रघुकुल सरदार है।।
कंस के कुटिल बंस–बंसन बिधुंसिबे को, भयो जदुराय बसुदेव को कुमार है।
पृथी पुरहूत साहि के सपूत सिवराज, म्लेच्छन के मारिबे को तेरो अवतार है।।
(शिवराज भूषण)

इस अवतार-कल्पना में कहीं तो एक ही प्रकार के उदाहरण और कहीं बिम्बप्रतिबिम्ब भाव भी मिलते हैं। एक उदाहरण देखिए—

येनांभोनिधिभाविश्य बिभ्रता मीनरूपताम्।
हंतः शंखासुरः संख्ये श्रुतयश्चाप्युपाहृलताः।।२८।।
आधारिमंदरो येन पृष्ठे स्वे कमठात्मना।
तथाचाधारतामेत्य व्यधायि वसुधा स्थिरा।।२९।।
उद्धृत्य वसुधां सद्यः समुद्रांद्दंष्ट्रया स्वया।
येन वाराहरूपेण हिरण्याक्षो निषूदितः।।३०।।
हरेर्यवीयसा येन हरिणा ह्रस्वरूपिणा।
अलं छलं कलयता बलिर्भीतो रसातलम्।।३१।।
आविर्भूय सभास्तंभान्नरसिंहत्वमीयुषा।
व्यदारि करजयैंन हिरण्यकशिपोरुरः।।३२।।
भृगुवंशावतंसेन रणुकेयेन येन वै।
कार्तवीर्यं निहत्याजौ कृता निःक्षत्रियामही।।३३।।
येन दाशरथी भूय निबद्धां मोधिसेतुना।
दशकंठशिरः श्रेणी शरेणैकेन पातिता।।३४।।
वृष्णिवंशावतंसेन येन शूरेण शौरिणा।
धर्म व्यवस्थापयता हताः कंसादयः खला।।३५।।
स विष्णुस्सर्वदेवानां सर्वस्वमहमीश्वरः।
हर्तुं भारमिमं भूमेराविर्भूतोस्मि भूतले।।३६।। (अ० १८)

'भूषण' ने भी 'शिवभारत' की तरह तमाम अवतारों के नाम गिनाते हुए लिखा है कि जो पराक्रम मत्स्य, कच्छप, बराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, श्रीराम, बलदेव और बुद्धावतार में

या और जो अब आगे होने वाले कल्कि अवतार में होना सुनते हैं, वही भूमि का आधार रूप (पृथ्वी को संभालने वाला) साहस अब शिवाजी महाराज में शोभित है। देखिए—

मच्छहु, कच्छ मैं कोल नृसिंह मैं बावन मैं भनि भूषन जो है।
जो द्विजराज मैं जो रघुराज मैं जोऽब कह्यो बलरामहु को है॥
बौद्ध मैं जो अरु जो कलकी मँह बिक्रम हूबे को आगे सुनो है।
साहस भूमि अधार सोई अब श्री सरजा सिवराज में सोहै॥१९०॥
(शिवराज भूषण)

एक और उदाहरण—

ब्रह्म रचै पुरुषोत्तम पोसत संकर सृष्टि संहारनहारे।
तू हरि को अवतार सिवा नृप काज संवारै सबै हरिवारे॥
भूषण यों अवनी जवनी कहै कोऊ कहै सरजा सो हहारे।
तू सबको प्रतिपालनहार, बिचारे भतार न मार हमारे ॥२३०॥
(शिवराज भूषण)

पुराण और अवतार की कल्पना को लेकर 'शिवभारत' की रचना हुई है, इसमें संदेह नहीं फिर भी यदि ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रंथ का अध्ययन करें तो कथानक में कहीं कोई गलती दिखाई नहीं देती। श्री सदाशिव महादेव दिवेकर का कथन है कि इसके सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रसंग में भी स्थल-काल-व्यक्ति का विपर्यास नहीं है। इसमें तिथि का उल्लेख केवल दो स्थलों पर हुआ है (१) शिवाजी के जन्म की और (२) अफजलखाँन वध की और दोनों बिलकुल ठीक है। यह भी एक प्रमाण है कि ग्रन्थकर्त्ता शिवाकालीन है। श्रीदत्तोवामन पोतदार ने इसकी ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में लिखा हैं कि—"काव्य में इतिहास कैसे यह शंका मनमें थी किन्तु परमानन्द का शिवभारत उस कोटि का काव्य नहीं है। परमानन्द तो कवि है ही साथ ही इतिहासवेत्ता भी है, इसका विश्वास होगया।" शिवभारत की तरह शिवभूषण में भी इतिहास का विपर्यास नहीं है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखते हैं—"यद्यपि भूषण ने शिवाजी का चरित्र यथाक्रम नहीं लिखा तथापि उसकी प्रकीर्ण रचना में ऐसे सूक्ष्म संकेत है जिनका इतिहास से पूरा समन्वय है।"[1]

'शिवभारत' और 'शिवभूषण' दोनों में काव्य की दृष्टि से बहुत अन्तर है। एक का उद्देश्य प्रबन्ध-काव्य के रूप में महाभारत की श्रेणी की रचना करना रहा है, तो दूसरा अलंकार-ग्रंथ लिखना चाहता है। 'शिवभारत' में कुल ३२ अध्याय हैं और कथा-क्रम से लिखी हुई है किन्तु शिवभूषण में कथा-क्रम नहीं है। उसमें १०५ अलंकारों के लक्षण प्रायः दोहों में दिए गए हैं और उनके उदहरण शिव-चरित्र पर घटित किए गए हैं। ऐसी स्थिति में भूषण को कथा-क्रम से अधिक अलंकारों का

---

१. भूषण--पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० १२४

ध्यान रखना पड़ा है और उसी के अनुकूल उदाहरण लिखने के लिए शिव-चरित्र की ओर ध्यान देना पड़ा है।

कथा-भाग में भी बहुत से स्थलों पर भाव-बिंब-प्रतिबिम्ब मिलते हैं। एक दो प्रसंग देना उपयुक्त होगा। अफजलवध-प्रसंग को बड़े विस्तार से लिखा गया है। उसी प्रसंग में शिवाजी कहते हैं —

जयवल्लीवनं घोरं गृहं कंठीरवस्यमे।
विशान्निधनमागंता द्विषन्नफजलो गजः॥३९॥(१८वां अध्याय)

अर्थात जावली का घोर जंगल यह मेरी अपने सिंह की गुफा है और इसमें प्रवेश करने वाला शत्रु अफजलरूपी हाथी निश्चित ही मारा जायगा। इसी प्रकार भूषण ने भी लिखा है—

सिंह थरि जाने बिन जावली जंगल हठी, भठी गज एदिल पठाय करि भटक्यो।
भूषण भनत, देखि भभरि भगाने सब, हिम्मति हिये में धरि काहुवै न हटक्यो॥
साहि के सिवाजी गाजी सरजा समत्थमहा, मदगल अफजलै पंजाबल पटक्यो।
ता बिगरि ह्वै करि निकाम निजधाम कँह, आकुत महाउत सुआंकुस लै सटक्यो॥
(शिवराज भूषण)

और एक प्रसंग देखिए—

इत्थं चेतसि चिंतितंवत निजे म्लेच्छेन तेनच्छलम्।
तद्विज्ञाय शिवः स एष सकलं सद्यस्तदीयं फलम्।
तस्मै दातुमयौद्यतो युधि यथा वक्ष्यामि सर्वं तथा।
मन्ये तद्यशसा सुधामधुकथा पीयूषवार्ता वृथा॥६५॥
('शिवभारत' अध्याय २०)

दानव आयो दगा करि जावली दीह भयारो महामद भार्‌यो।
भूषन बाहुबली सरजा तेहि भेंटिबे को निरसंक पधार्‌यो॥
बीछू के घाय गिरे अफजल्लहि ऊपर ही सिवराज निहार्‌यो।
दाबि यों बैठो नरिन्द अरिन्दहिं मानो मयन्द गयन्द पछार्‌यो॥
(शिवराज भूषण ९८)

शिवाजी के जन्म के समय सारा भारतवर्ष यवनाक्रांत था। स्वराज्य स्थापना और धर्मस्थापना की ओर किसी का ध्यान नहीं था। हिन्दुत्व की भावना पर प्रहार हो रहा था। कला-कौशल की उन्नति की ओर एक प्रकार से सब की आंखें मुंदी हुई थीं। धर्म का प्रायः लोप हो गया था। ऐसी विकट परिस्थिति में शिवाजी अवतरित हुए और कलियुग की कठिन समस्याओं से जूझकर उन्होंने फिर से धर्मसंस्थापन किया। स्वराज्य की दिशा मे कदम उठाया और रोते प्राणों को फिर से

हँसाकर उनमें आत्म विश्वास की भावना पैदा की। इस सम्बन्ध में शिवभारतकार और शिवभूषण-कार दोनों सहमत हैं और दोनों ने इसी दृष्टिकोण को अपनाते हुए धर्मसंस्थापक और स्वराज्य संस्थापक के रूप में शिवाजी की प्रतिष्ठा की है।

—राजमल बोरा, एम० ए० 'साहित्यरत्न'

० ० ०

कवि नवीन और उनकी 'उर्मिला'

'ऊर्मिला'—स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की इकलौती प्रबंध काव्यकृति है। कवि नवीन, बहुमुखी प्रतिमा के व्यक्ति थे। उनका अधिकतर जीवन, स्वातंत्र्य-संग्राम और राजनीति में बीता, पर उनकी मूल चेतना एक कवि की ही चेतना थी। उनकी इस चेतना का गठन हुआ था विद्रोह और करुणा से। उनका सारा जीवन इन्हीं दो तत्वों से स्पन्दित रहा। उनका काव्य भी इसी की अभिव्यक्ति है।

नवीन जी का गीतकार कवि, प्रस्तुत प्रबंध-काव्य की रचना में कैसे प्रवृत हुआ, यह कहना कठिन है। संभावना यही है कि रवि बाबू की "काव्यो उपेक्षिता" चुनौती से उसे प्रेरणा मिली हो। गुप्तजी के 'साकेत', और 'ऊर्मिला' के निर्माण-काल में एक दो साल का ही अंतर है। 'साकेत' समाप्त हुआ १९३१ में और 'ऊर्मिला' १९३४ में। पर वह प्रकाशित हो सकी १९५७ में। इस देरी के लिये नवीनजी ने बहुतेरे कारण दिए हैं। यथार्थ में, यह उनका, कवि का, आत्म प्रकाशन की दुर्बलता के प्रति, विद्रोह ही था।

'उर्मिला' नवीन की सर्वथा स्वतंत्र सृष्टि है। उसमें, कवि का दृष्टिकोण एकदम मौलिक और परंपरा-निरपेक्ष है। इस रचना के प्रेरक बिन्दु दो हैं। एक है, उर्मिला के उपेक्षित चरित्र की संपूर्ण अवतारणा, और दूसरा है, रामकथा की नई सांस्कृतिक व्याख्या। 'भूमिका' में नवीनजी ने स्वयं स्वीकार किया है कि काव्य में रामायणी कथा नहीं है।

उर्मिला की समूची कथावस्तु दो खंडों में विभक्त है। पहले में कवि, ऊर्मिला के चरित्र का क्रमिक विकास निवद्ध करता है और दूसरे में वह रामकथा की प्रमुखतम घटना 'वन गमन' की नई सांस्कृतिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इस नई व्याख्या के अनुसार यम की वन यात्रा, कौटुम्बिक कलह का परिणाम नहीं थी। वस्तुतः यह यात्रा, दक्षिण में आर्य संस्कृति के प्रचार के लिये आयोजित की गई थी। कैकेयी की वह एक कूटनीतिक चाल थी। इस नवीनीकरण से, दो लाभ अवश्य हुए। एक तो रामकथा की कटुता कम हुई और दूसरे कैकेयी के चरित्र का उदात्तीकरण हो गया। पहले भाग में पहले पांच सर्ग आते हैं और दूसरे में अकेला छठा सर्ग। शैली के विचार से भी इसमें प्रबंध और गीत-शैली का समन्वय है। पहले तीन सर्ग में कवि की प्रबंध-कुशलता का सुंदरतम निदर्शन है और तीसरे और चौथे में गीत-भावना का।

उर्मिला, वस्तुतः रामचरित मानस की भांति एक मानस प्रबंध काव्य है। क्योंकि इसमें ऊर्मिला का समूचा चरित्र कवि के मानस से उद्‌भृत है। अतीत की संपूर्ण अनुभूति करके ही कवि, प्रस्तुत काव्य की रचना करने में समर्थ हो सका है। समूची प्रबंध कल्पना का केन्द्र बिन्दु 'उर्मिला'

का चरित्र है। अभी तक उर्मिला के चरित्र को वियोग के संदर्भ में ही देखा जाता रहा है, पर नवीनजी ने उसे, एक समग्र जीवन के संदर्भ में देखा है। दूसरे, इस काव्य में उर्मिला का चरित्र, सीता के चरित्र की समानान्तर रेखाओं पर अंकित हुआ है। तीसरे, सारी कथा, कवि स्वयं नहीं कहता, प्रत्युत उसकी कल्पना कहती है। इस प्रकार अपनी कल्पना के संवाद-सूत्र के द्वारा, उसने समूची कृति को गीत की झंकार दे दी है।

संक्षेप में कथा विवरण यह है। पहले सर्ग में उर्मिला की बचपन से लेकर विवाह तक की घटनाएं वर्णित है। वस्तु-वर्णन-क्षमता, प्रकृति-चित्रण और भविष्य के संदर्भ में उर्मिला के विकासोन्मुख चरित्र का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, इस सर्ग की प्रमुख विशेषताएं हैं। सीता की तुलना में, ऊर्मिला का चरित्र अंकित करके, नवीनजी ने सचमुच उसके चरित्र में नवीनता ला दी है। जनक के उपवन में, दोनों बहने जो कथाएं कहती हैं, वे एक प्रकार से उन्हीं के संस्कारों, रुचि और भावी जीवन-दिशा की प्रतीक हैं। सीता गांधार राज की कथा कहती है जिसमें एक राजकुमारी, अपने पिता को शत्रु से छुड़ाती है। ऊर्मिला एक कपोती की लघु कथा सुनाती है जो अपने प्रिय के अकारण विछोह में मर जाती है। सीता साहसी है, और वह परिस्थिति पर अपना अधिकार जमाना जानती है। ऊर्मिला सहनशील है, पर वह, करुण आवेग से मन के विद्रोह को दबा लेती है। इस प्रकार ये कथाएं दोनों के चरित्र के भावी विकास का पूर्वाभास करा देती हैं। इसके बाद-स्वयंवर, धनुषयज्ञ राम-परशुराम संवाद आदि विवरणों को कवि अनावश्यक कहकर टाल देता है। सच पूछा जाय तो ऊर्मिला के चरित्र के बिन्दु से इनकी आवश्यकता भी नहीं है। दूसरे सर्ग में उसने नववधुओं के, अयोध्या प्रवेश की प्रतिक्रिया का व्यापक अंकन किया है! इस बहाने उसके रूप, वाक-चातुर्य आदि गुणों का विशद परिचय पाठकों को मिल जाता है। विवाहोत्तर विनोद, देवर ननद की चुटकियां आदि का, बहुत ही स्वाभाविक उल्लेख हुआ है। फिर भी इस समूचे आमोद-प्रमोद में ऊर्मिला खो नहीं जाती। वह चुपचाप, प्रिय की गतिविधि से उसके स्वभाव का अंदाज लगाती रहती है। एक दिन, अपने इसी अंदाज को "एक अश्वहीन आखेटक के चित्र" के रूप में अंकित कर, वह सबको आश्चर्य में डाल देती है। अपने भविष्य के प्रति उसका यह कलात्मक संकेत है।

तीसरे सर्ग में यद्यपि वियोग नहीं होता, पर उसका प्रसंग आ जाता है। लक्ष्मण राम के साथ बन जाने के लिये कृतसंकल्प हैं। ऊर्मिला भी उनके काम में बाधक बनना नहीं चाहती। फिर भी, वह किसी भी दशा में कैकेयी का अन्याय सहन करने को प्रस्तुत नहीं। उसकी मान्यता है कि इस प्रकार वह 'अपने प्रेम' की हत्या नहीं होने देगी। उसके लिए वह प्रेम से विद्रोह करने के लिए आग्रह करती है। क्योंकि उसके विचार से बाहर संस्कृति का प्रचार करने की अपेक्षा, पहले घर के अन्याय से निपटना अधिक न्यायसंगत है। उर्मिला के इन विचारों में एक प्रकार से, कवि के ही विश्वास बोल उठे हैं। कवि नवीन, 'प्रेम श्रेय' के इसी समन्वय के लिये विद्रोह करते रहे हैं। उनके अनुसार, कोरा 'प्रेम' यदि आत्मकुंठा है तो कोरा 'श्रेय' निरा ढोंग। तीसरा सर्ग, एक विदा समारोह ही समझिए। इसमें एक एक करके सभी की प्रतिक्रिया और सांत्वना वर्णित की गई है। कवि का विद्रोही स्वर, राम के इन शब्दों में बरबस फूट पड़ा है—

जीवन में वरदान समझना,
अभिशापों को — जय है।
युद्धस्थल में तनिक हिचकना,
मानवता का क्षय है।।

उसके बाद वियोगधारा प्रवहमान हो उठती है। और तब, नवीन का अंतर कवि, प्रबंध-कवि से गीत-कवि बन जाता है। चौथे सर्ग में उसकी गीत-भावना छायावाद के पदचिन्हों का अनुसरण करती है और पांचवें में दोहों की पुरानी पगडंडी का दोहा। दोहा उत्तर-कालीन अपभ्रंश और प्रारंभिक खड़ीबोली की कविता का लाडला छंद रहा है पर खड़ीबोली के किसी कवि ने अपने प्रबंध काव्य में उसे नहीं अपनाया। हां, दोहा नवीनजी से अवश्य दुलार पा गया, और दुलार भी पूरे पांचवें सर्ग में। छठे सर्ग में, नवीन की चेतना शुद्ध आधुनिक घरातल पर आ जाती है। उसमें लंका विजय के उपरान्त राम, अपनी लंका यात्रा और जीवन के 'मिशन' का विस्तार से उल्लेख करते हैं। इसमें राम विश्व मानवतावादी हैं। उनमें विचार से राम और रावण का संघर्ष है, पर यह वस्तुतः व्यक्तिवाद और साम्राज्यवाद का संघर्ष है। रावण प्राकृतवाद का प्रतीक है और राम सुसंस्कृतवाद के। राम आत्म विश्लेषण करते हुए, स्पष्ट शब्दों में अपनी यह असफलता अस्वीकार करते हैं, कि वह रावण का हृदय परिवर्तन नहीं कर सके। इस कथन में कवि ने राम-युग की राष्ट्रचेतना पर अपने युग की राष्ट्र चेतना की विजय का संकेत दिया है। राम ने उन इति निश्चिततावादियों और अधजडवादियों की कड़ी आलोचना की है जो "अर्थ' को ही, मानवी प्रगति का मानदंड मानते हैं। इसके बाद, राम अयोध्या लौटते हैं। पर उनकी ऊर्मिला लक्ष्मण के मिलन पर, अपनी दार्शनिक प्रतिक्रिया प्रकट कर विराम ले लेती है। इस मिलन में दोनों (ऊर्मिला और लक्ष्मण) सिद्ध हैं, जब कि इनकि पूर्वज साधक थे। यह, उनका मिलन नहीं, 'आत्मदर्शन' था।

इस प्रकार, उर्मिला, कवि नवीन की बहुत बड़ी मानसिक उद्भावना है। यह, हिन्दी प्रबंधकाव्य-परंपरा की ही महत्वपूर्ण कड़ी नहीं है, वरन् समूची राम प्रबंध-काव्य धारा में, इसका अपना व्यक्तित्व है। इसमें, उर्मिला का अश्रु विगलित वियोगी जीवन ही अंकित नहीं है, वरन् उसकी चपल लहरों का हास-विलास भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से 'उर्मिला'—द्विवेदीयुग और छायावादी युग के संस्कारों और काव्य-प्रवृत्तियों की उपज है। और कुछ बातों में, इसमें पहले के प्रभाव भी लक्षित होते हैं। संस्कृत प्रबंधों की वर्णन-क्षमता, रीतियुग की दोहा शैली, द्विवेदीयुग की इतिवृत्तात्मकता, छायावाद की गीतमयता और दार्शनिक उड़ान तथा प्रगतिवादियों की विश्व मानवता एक साथ 'उर्मिला' में तरंगित हैं, फिर भी उर्मिला अपनी आत्मा की टेक पर खड़ी है। ये सब प्रवृत्तियां 'उर्मिला' में हैं, पर ऊर्मिला इनमें नहीं है। अभिव्यक्ति की स्वच्छता और प्रसाद-गुण-युक्त भाषा, नवीनजी की निजी विशेषताएं हैं। नवीन का कवि जीवन भावना का कवि है, बोझिल प्रतीकों और रूढ़ दार्शनिक आस्थाओं का नहीं। वह हँसता है तो जीने के लिये और रोता है तो जीने के लिये। यही कारण है द्विवेदीयुग की लोकोत्तर श्रद्धा छायावाद की,

उस पार जाने की प्रवृत्ति, और प्रगतिवादियों की आर्थिक दृष्टि नहीं है। उसकी उर्मिला, सचमुच, रामकथा काव्य का एक पूरक काव्य है। और वह काव्य नहीं, प्रत्युत एक स्पंदन-धड़कन भर है। कवि के शब्दों में--

"नहीं कठिन कुछ चित्रित करना
विश्वक्रांतियों का चित्रण
पर कल्पने असंभव ही है
दिखलाना हिय का स्पंदन॥"

'उर्मिला', संपूर्ण चित्र है, खंडित नहीं। न तो उसमें अति प्राकृतवाद है और न अत्याधुनिकतावाद। एक आलोचक ने नवीन को भक्तियुग का आधुनिक कवि कह दिया है। पर यह ठीक नहीं। नवीन का कवि, विद्रोह और करुणा का कवि है। उसकी चेतना मानवता के आधुनिक संस्कारों से अनुप्राणित है। समूचे काव्य में महत्वपूर्ण यह नहीं है कि कवि उर्मिला को किस भाव से देखता है, महत्वपूर्ण यह है कि उर्मिला स्वयं को किस भाव से देखती है। वस्तुतः नवीन, व्यक्ति अर्थात् प्रेम और समष्टि अर्थात् श्रेय के कवि हैं। मानवता का इतिहास, 'प्रेम और श्रेय' के आपसी संबंधों के संघर्ष का इतिहास है। नवीन का कवि, दोनों के समन्वय का आकांक्षी और साथ ही इसकी रोधक शक्तियों का विद्रोही कवि रहा है। यही उसकी जीवन पाती है, जिसे वह, काव्य की उर्मिला को सौंपकर, जीवन की सीमाओं से बहुत ऊपर उठ गया है।

--(डॉ०) देवेन्द्रकुमार जैन

० ० ०

बंगाल के 'घाघ'—'डाक' और 'खना'

सर मानियर विलियम्स ने अपने 'संस्कृत कोश' की भूमिका में इस बात पर जोर दिया है कि नीतिशास्त्र के ज्ञान एवं उसकी पटुता में भारतवासी संसार में अद्वितीय रहे हैं। यहाँ के नागरिक एवं शिक्षित व्यक्ति ही नहीं ग्रामीण और अल्पशिक्षित व्यक्ति भी नीति की सूक्तियाँ बोलते सुने जाते हैं। ऐसी सूक्तियाँ और कहावतें वस्तुतः लोकसाहित्य की पूँजी हैं। ऐसे नीतिकारों में जनकवि घाघ का स्थान मूर्धन्य है। जनता की साधारण बोली में नीति की बातें कहने वालों में इस जनकवि की कहावतों का प्रचार-प्रसार समस्त उत्तर भारत, मध्यभारत तथा उनकी प्रत्येक जनपदीय बोलियों में मिलता है।

दुःख का विषय है कि इस जनकवि के जीवन के सम्बन्ध में आज भी हमें उचित प्रामाणिक सामग्री नहीं मिलती। जो कुछ प्रमाण मिलते हैं, उनके आधार पर कुछ विद्वान घाघ को बिहार के अन्तर्गत छपरा निवासी सरयूपारीण ब्राह्मण और कुछ अन्य विद्वान इन्हें कन्नौज निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण बतलाते हैं। इनकी जन्मतिथि के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। कहा जाता है कि इनकी मृत्यु तालाब में डूब जाने से हुई थी। वस्तुस्थिति जो कुछ भी हो किन्तु इसे सभी विद्वान स्वीकार करते हैं कि जनकवि 'घाघ' बड़े ही प्रतिभाशाली तथा बहुजनश्रुत व्यक्ति थे।

उनका अनुभव बड़ा सूक्ष्म और व्यापक था। वह ऋतु, विज्ञान कृषिशास्त्र तथा ज्योतष के पंडित तो थे ही, सुविज्ञ नीतिज्ञ भी थे। उनकी बुद्धिमत्ता एवं दूरदर्शिता के कारण ही 'घाघ' शब्द आज चातुर्य का पर्याय बन गया है। उनकी कहावतों में ज्योतिष, वैद्यक, नीति एवं गार्हस्थ-जीवन की सभी उचित तथा उपयोगी बातों की चर्चा मिलती है साथ ही नित्यप्रति की अनेकानेक घटनाओं के सूक्ष्म विवेचन एवं व्यक्तिगत अनुभवों को जन-साधारण की भाषा में पद्यबद्ध करके जनकवि ने प्रायः जीवन के सभी क्षेत्रों का अपना प्रगाढ़ अध्ययन प्रकट किया है।

'घाघ' का महत्व दर्शाते हुए प्रो० श्रीचन्द जैन लिखते हैं :—'घाघ' की कहावतों का बघेलखण्डी, बुन्देलखण्डी, भोजपुरी, अवधी, व्रज, छत्तीसगढ़ी, गुजराती, मराठी, मालवी, पंजाबी, राजस्थानी आदि भाषाओं के लोकसाहित्य में समान रूप से प्रवेश और प्रभाव है। इतना ही नहीं, आदिवासियों के साहित्य में भी घाघ की उक्तियों को आदरपूर्ण स्थान मिला है।

अपने इस वक्तव्य में प्रोफेसर जैन ने बंगाल का नाम नहीं लिया है। अतः मन में यह शंका उठना स्वाभाविक है कि बंगाल प्रान्त ने घाघ की उक्तियों और कहावतों को क्योंकर अपनाया ? आखिर घाघ के प्रति इस प्रदेश की उपेक्षा का क्या कारण हो सकता है ? इस तथ्य की खोज के लिए अग्रसर होने पर बंगाल के एक जनकवि 'डाक' और एक कवयित्री 'खना' का परिचय मिला—ठीक घाघ और उनकी विदुषी पतोहू की भांति।

पं० हंसकुमार तिवारी ने अपनी पुस्तक 'बंगला और उसका साहित्य' में लिखा है—'डाक' और 'खना' के वचन में ज्योतिष तथा क्षेत्र-तत्व की बातें भरी पड़ी हैं, साथ ही उनमें मानव-चरित्र की व्याख्या भी देखने को मिलती है। 'डाक' को बंगला का सुराकत कहा जाता है। कहते हैं कि जन्मते ही डाक ने अपनी माँ को पुकारा था, इसलिए उनका नाम डाक पड़ा। बंगला भाषा में 'डाक' का अर्थ पुकार होता है। कुछ विद्वान डाक का जन्म आसाम के 'लोहिडांगरा' में बतलाते हैं जो आज भी लोहू नाम से मौजूद है किन्तु नवीन खोजों से पता चलता है कि आसाम का डाक कुम्हार था जब कि बंगाल के 'डाक' जाति के गोप (ग्वाले) थे। आसाम, उड़ीसा, बंगाल तथा बिहार तक में 'डाक' के वचन कहे और सुने जाते हैं। इनके समय के विषय में भी प्रामाणिक तौर पर कुछ कहा नहीं जा सकता। इनकी भाषा को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि इनके वचन तब के हैं, जब बंगाल बनने के क्रम में था। संक्षेप में कहा जाय तो इसमें वास्तविक बंगला भाषा की प्राक प्रचेष्टा के निदर्शन हैं।

तिवारी जी आगे लिखते हैं—'यह तो विश्वसनीय नहीं लगता कि यह व्यक्ति विशेष का ही दान है। बौद्ध युग में सिद्ध होकर कुछेक पद बना लेने वाली को 'डाकिनी' कहा जाता था। यह डाक शायद उसी का पर्यायवाची शब्द हो। वास्तव में यह जातीय सम्पत्ति है और जाने अनजाने इसमें हर व्यक्ति का सहयोग है।'

श्री आशुतोष भट्टाचार्य भी अपने वृहद ग्रन्थ 'बांगलार लोक साहित्य' में लिखते हैं—'डाक' किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं हैं। तिब्बती भाषा में डाक शब्द का अर्थ होता है प्रज्ञा या ज्ञान। इस आधार पर डाक के वचन का शाब्दिक अर्थ हुआ ज्ञान की बातें (Words of Wisdom)

बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा तीनों ही स्थानों में डाक के वचनों का अत्यधिक प्रचार-प्रसार है। इन तीनों ही प्रदेशों के कृषिजीवी समाज में इनका एक विशिष्ट व्यावहारिक मूल्य है। इसीलिए बहुत प्राचीन समय से श्रुतिपरम्परा द्वारा आज भी प्रचलित हैं। कुछ विद्वान इनके वचनों को बंगला के प्राचीनतम साहित्यिक प्रयास के रूप में स्वीकार करते हैं।

श्री सुकुमार सेन अपनी पुस्तक 'बाँगलार साहित्येर कथा' में लिखते हैं 'डाक' के वचन बंगला के प्राथमिक रूप में हैं जब वह प्राकृत की केंचुल छोड़कर खड़ी होने के क्रम में थी। उदाहरणार्थ :—

बुन्ढा बुझिया एड़िब लुण्ड । आगल हैले निवारिव तुण्ड ॥

'डाक' की रचनायें पढ़कर कभी कभी यह शंका होने लगती है कि 'डाक' वस्तुतः बंगाल के कोई विशेष व्यक्ति अथवा जनकवि थे या कहीं ? ऐसा तो नहीं है कि हमारे चिर-परिचित 'घाघ' ही बंगाल में पहुंचकर डाक बन गए हों ? और यदि दोनों वस्तुतः दो भिन्न व्यक्ति थे तो दोनों के साहित्य में अनायास मिलने वाले साम्य का अध्ययन सचमुच आश्चर्य की वस्तु होगी और इन दोनों का तुलनात्मक विवेचन न केवल दो भिन्न प्रान्तों को समीप लायेगा बल्कि वह भारतीय जीवन की अटूट एकता का परिचायक सिद्ध होगा, साथ ही भाषा रीति-नीति एवं आचार-विचार में कुछ भिन्न दो प्रान्त एकता और आत्मीयता के सूत्र में कुछ और मजबूती से बँध जायेंगे। 'डाक' तथा 'घाघ' की रचनाओं में आश्चर्यजनक साम्य के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं।

'डाक' कुगृहणी का लक्षण बतलाते हुए एक स्थान पर लिखते हैं:—

घरे आखा बाइरे राँधे, अल्प केस फुलाइया बाँधे।
घन घन चाय उलटि घाड़, ड़ाक बले ए नारि घर उजाड़॥

अर्थात् चूल्हा तो घर रहा, रसोई बाहर बनाती है, थोड़े से बाल हैं, उन्हें फुला-फुला कर सवाँरती है, बार बार गर्दन घुमाकर इधर-उधर निहारती है। यदि ऐसी स्त्री मिली तो घर उजाड़ समझिए।

चरित्रहीन नारी का लक्षण बतलाते हुए 'डाक' पुनः कहते हैं:—

नियड़ पोखरि दूरे जाय, पथिक देखिले आउड़े चाय।
पर संभाषे बाटे थिके, डाक बले ए नारि घरे ना टिके॥

अर्थात् पोखर पास रहने पर भी पानी लेने के लिए दूर जाती है, बटोही को तिरछी चितवन से देखती है, बाहर खड़ी खड़ी बेगानों से बातें करती है, डाक कहते हैं कि ऐसी स्त्री घर में कभी नहीं टिक सकती।

अब कुलक्षणी तथा चरित्रहीन स्त्रियों के लिए 'घाघ' क्या कहते हैं, सुनिए:—

साँझे ते परि रहतीं खाट, पड़ी भँड़ेहरि बारह बाट।
घर आगन सब घिन घिन होय, घघ्घा तजौ कुलच्छनि जोय॥

\+ \+ \+

परसुख देख अपन मुख गोवै, चूरी कंकन बेसरि टोवै।
आँचर टारि के पेट दिखावै, अब . . . . . का ढोल बजावै।।
उलटा बादर जो चढ़ै विधवा खड़ी नहाय।
घाघ कहैं सुन घाघिनी वह बरसै वह जाय।।

उपर्युक्त उद्धरणों से 'डाक' और 'घाघ' के वचनों में मिलने वाला अनोखा साम्य उल्लेखनीय है और यह इस सत्य का उद्घाटन करता है कि भारतीय गाँवों का हृदय दीर्घकाल से अपनी अपनी भाषा में एक ही चिरन्तन भाव प्रकट करता आ रहा है। एक ही भाव थोड़ी बहुत वेश-भूषा बदलकर सम्पूर्ण भारतीय जीवन में अटूट भाव से शताब्दियों से चले आ रहे हैं। आज आवश्यकता इस वात की है कि 'डाक' तथा 'घाघ' के वचनों का प्रामाणिक संग्रह तैयार कर उनका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय।

'खना' के सम्बन्ध में पं० हंसकुमार तिवारी लिखते हैं—'खना के वचन से तो घाघ और भड्डरी की याद आ जाती है। गृहस्थी और खेती के सम्बन्ध की उनकी कहावतें बंगाल में प्रत्येक की जबान पर लगी हैं।'

खना के सम्बन्ध में अनेक तरह की बातें कही-सुनी जाती हैं जिनमें अधिकांश विश्वास-योग्य नहीं हैं। कुछ विद्वान् इन्हें महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक वाराह के पुत्र मिहिर की पत्नी बतलाते हैं, किन्तु यह विश्वसनीय नहीं लगता। खना के स्त्री होने के सम्बन्ध में भी कुछ विद्वान सन्देह करते हैं। ऐसा भी अनुमान किया जाता है कि क्षण की बातें कहने के कारण लोगों ने उन्हें क्षणा (खना) कहना आरम्भ कर दिया हो। इसके विपरीत कुछ विद्वानों के कथनानुसार अपने श्वशुर वाराह की निरन्तर आलोचना और विरोध के फलस्वरूप कालान्तर में पश्चात्ताप के कारण इन्होंने अपनी जिह्वा काट डाली थी जिसके कारण इनका 'खना' नाम पड़ा। तथ्य जो कुछ भी हो, खना के वचन बड़े मूल्यवान् तथा लोकप्रिय हैं—इसमें सन्देह नहीं।

यहाँ 'घाघ' की कहावतों के साथ अनिवार्य रूप से संयुक्त घाघिन के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अन्यथा नहीं होगा। कहा जाता है कि ठेलुहे घाघ और उनकी पतोहू में बराबर लगाव-बुझाव हुआ करता था। घाघ की पतोहू भी कवयित्री थी और एक बार अपनी इस पतोहू से कुछ गरम बतकही हो जाने के परिणामस्वरूप ही 'घाघ' मुगल सम्राट अकबर के दरबार में पहुँचे थे। कुछ विद्वानों का कथन है कि घाघ के कथन के उत्तर में उनकी पतोहू की रचनाएं पूर्णतया विपरीत पड़ती हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि चलन की बातें घाघ और उनके अपवाद घाघ की पतोहू के काव्य में मिलते हैं।

श्री आशुतोष भट्टाचार्य अपने 'बाँगलार लोक साहित्य' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—'फलित ज्योतिष, रौद्र-वृष्टि, कृषि कार्य तथा प्राकृतिक विषय आदि सम्बन्धी नैसर्गिक पद्य 'खना के वचन' नाम से मिलते हैं। डाक और खना के वचनों में आश्चर्यजनक एकरूपता देखकर प्रायः लोग इन दोनों के साहित्य पर एक साथ विचार करते हैं किन्तु भाव-पक्ष को दृष्टि में रखते हुए दोनों के

वचनों पर स्वतंत्र रूप से विचार ही समीचीन होगा। कारण डाक के वचन अधिकांश ही नीति-मूलक हैं।'

इस प्रकार खना का स्त्री होना, उसका कृषि तथा गृहस्थी सम्बन्धी बातें कहना और घाघ की कहावतों के साथ उसका अनोखा मेल, लोक साहित्य के खोजियों के लिए एक खुला आमंत्रण है।

'खना' की वर्षाफल सम्बन्धी एक बानगी देखिए—

यदि बरे आगने।
राजा जान माँगने॥
यदि बरखे पौषे।
कड़ि हय तुषे॥
यदि वरखे माघेर शेष।
धन्य राजा पुण्य देश॥

अर्थात् यदि अगहन (आगने) में बरसा हो तो राजा को भी भीख माँगने की नौबत जाय। यदि कहीं पूस में पानी पड़े तो राख (तुष) में भी पैसे होंगे और यदि कहीं माघ के अन्त में बरसा हो जाय तो समझो धन्य है वह राजा और पुण्यात्मा है वह देश!

अब 'घाघ' की उक्ति सुनिए——

धन है राजा धन है देश। जहवाँ बरसै अगहन सेस॥
पूसै दुगुना माघ सवाई। फागुन बरसे घर से जाई॥
जो कहूँ माघ में बरसै जल। सब नाजन में लावे फल॥
पानी बरसै आधा पूस। आधा गेहूँ आधा भूस॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि घाघ और उनकी पतोहू की भाँति 'डाक' और 'खना' का एक साथ संयुक्त होना तथा घाघ के वचनों का न केवल डाक के वचनों से बल्कि खना के वचनों से भी आश्चर्यजनक मेल एक अपूर्व रहस्य की ओर संकेत करता है। इसी प्रकार गोपीचन्द-भरथरी, वीरबल, जोनू झा तथा गोपाल भाँड़ आदि की लोकगाथाएँ एवं लतीफे एक साथ पूरे उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, आसाम तथा उड़ीसा में एक भाव से कहे और सुने जाते हैं। थोड़ी बहुत वेश-भूषा बदलकर ये लोकगाथाएँ, कहावतें तथा लतीफें मौखिक परम्परा के इतिहास में आपस में बुरी तरह सम्बद्ध हैं जो भाषा-शास्त्र के अध्ययन में तो हमारे लिए सहायक है ही, इनके आधार पर भारतीय जीवन की अटूट और अभिन्न आत्मा तथा इस विराट देश के अगणित जनो के जीवन का वास्तविक रूप देखा जा सकता है।

——दयाशंकर पाण्डेय 'हरीश' एम० ए०

पुस्तक-परिचय

प्राकृत पैंगलम् (भाग १) : सम्पादक—डा० भोलाशंकर व्यास, हिन्दी विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी; प्रकाशक—प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी—५; मूल्य, सोलह रुपए।

आलोच्य पुस्तक प्राकृत ग्रंथमाला का द्वितीय पुष्प है। इसके सम्पादक डा० वासुदेव शरण अग्रवाल तथा पं० दलसुख मालवनिया हैं। जिस प्रकार बिहार राज्य के नव नालन्दा विहार के तत्वावधान में पालि त्रिपिटक का प्रकाशन हो रहा है उसी प्रकार प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी ने भी प्राकृत ग्रंथों के प्रकाशन का कार्य अपने हाथ में लिया है। नव्य आर्य-भाषाओं के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के लिये पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश के वैज्ञानिक पद्धति से सुसम्पादित ग्रंथों की अत्यधिक आवश्यकता है। यह अत्यन्त प्रसन्नता की बात है कि हमारे देश के विद्वानों का ध्यान इस ओर गया है। इसके लिये प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी के संस्थापक एवं ग्रंथमाला के विद्वान सम्पादक अभिनन्दन एवं धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राकृत पैंगलम् मध्ययुग की सुप्रसिद्ध रचना है। यह छन्दशास्त्र का ग्रंथ है। छन्दों के उदाहरणस्वरूप इसमें जो पद्य संकलित किये गये हैं वे एक काल के नहीं हैं। डा० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या का विचार है कि ये पद्य ९०० ई० से १४०० ई० तक की रचनायें हैं। डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल के अनुसार मूल प्राकृत पैंगलम् का रचना-काल चौदहवीं शताब्दि का प्रथम चरण है। प्राकृत पैंगलम् का प्रथम प्रकाशन सन् १८९४ में, निर्णयसागर प्रेस-बम्बई से हुआ था किन्तु इसका एक उत्कृष्ट संस्करण, सन् १९०२ में, श्री चन्द्रमोहन घोष के सम्पादकत्व में, बंगाल की रायल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हुआ था। इधर गत पचास वर्षों में, इस देश में, प्राकृत एवं अपभ्रंश का जो अध्ययन हुआ है उसके परिणामस्वरूप और भी नूतन सामग्री प्रकाश में आयी है। प्रस्तुत संस्करण को तैयार करने में, पूर्व प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त डा० व्यास ने तीन नवीन प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों तथा उनकी टीकाओं का आश्रय लिया है। इस नूतन सामग्री ने प्रस्तुत संस्करण को नितान्त प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण बना दिया है। इस संस्करण में डा० व्यास ने मूल पाठ के अतिरिक्त, अन्य प्रतियों में उपलब्ध पाठों को भी दिया है। हिन्दी में अर्थ एवं आवश्यक भाषाशास्त्रीय टिप्पणियाँ इस संस्करण की विशेषताएँ हैं। परिशिष्ट में आपने संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त पद्यानुक्रमणिका एवं अभिधान भी दिया है। इस संस्करण को उत्कृष्ट एवं उपादेय बनाने में डा० व्यास ने स्तुत्य परिश्रम किया है और इसकी गणना देवनागरी में प्रकाशित गौरवग्रंथों में की जा सकती है।

'प्राकृत पैंगलम्' के अधिकांश पद साहित्यिक अपभ्रंश के ही हैं किन्तु कतिपय पदों में

संक्रांतिकालीन एवं नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के पूर्वरूप भी उपलब्ध होते हैं। उदाहरण-स्वरूप ऐसे कुछ पद नीचे उद्धृत किये जाते हैं:—

ढोल्ला मारिअ ढिल्लि महँ मुच्छिअ मेच्छ सरीर।
पुर जज्जल्ला मंतिवर चलिअ वीर हम्मीर॥
चलिअ वीर हम्मीर पाअभर मेइणि कंपइ।
दिग मग णह अंधार धूलि सूरह रह झंपइ॥
दिग मग णह अंधार आण खुरसाणक ओल्ला।
दरमरि दमसि विपक्ख मारु, ढिल्ली महँ ढोल्ला॥

(प्राकृत पैंगलम्–१.१४७)

ऊपर के पद में पश्चिमी हिन्दी के अनेक पूर्वरूप वर्तमान हैं। इसी प्रकार निम्न-लिखित पद की रेखांकित पंक्तियां कोसली का स्पष्ट रूप प्रकट करती हैं:—

पंडव वंसहि जम्म धरीजे, संपअ अज्जिअ धम्मक दिज्जे।
सोउ जुहिट्ठिर संकट पावा, देवक लिक्खअ केण मिटावा॥

(प्रा० पैं०–२.१०१)

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उद्धरण के रेखांकित रूपों में भोजपुरी, मैथिली और बँगला के प्राचीन रूप देखे जा सकते हैं:—

उच्चउ छाअण विमल घरा तरुणी घरिणी विणअपरा।
वित्तक पूरल मुद्दहरा वरिसा समआ सुक्खकरा॥

(प्रा० पैं०– १.१७४)

इसी प्रकार मराठी, गुजराती तथा अन्य नव्य भारतीय आर्य-भाषाओं के प्राचीन रूप भी 'प्राकृत पैंगलम्' के पदों में देखे जा सकते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इसकी रचना के समय साहित्यिक अपभ्रंश के बीच बीच में तत्कालीन लोकभाषाओं के रूप भी यत्रतत्र स्थान पाने लगे थे और नव्य भारतीय आर्य-भाषायें यद्यपि प्रादेशिक रूप में विकसित नहीं हो पाई थीं, फिर भी उनकी अपनी विशेषतायें प्रकट होने लगी थीं।

मुझे पूर्ण आशा है कि 'प्राकृत पैंगलम्' के द्वितीय भाग में डा० व्यास भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का उल्लेख करते समय संक्रान्ति-काल की भाषा के सम्बन्ध में भी सम्यक् रूप से प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

––(डा०) उदयनारायण तिवारी

पुरन्दरदास के भजन: लेखक––श्री बाबूराव कुमेठकर; प्रकाशक—सतसाहित्य केन्द्र, १७३–डी०, कमला नगर, दिल्ली–६; मूल्य, रु० ३.५० न० पै०।

भारतीय इतिहास में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन एक महत्वपूर्ण आन्दोलन है। वह भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के अनुरूप ही नहीं था, वरन् उसने तत्कालीन साधारण जीवन

को एक महान् आदर्श से अनुप्राणित किया। भक्तों ने जनभाषा का प्रयोग करते हुए संस्कृत ग्रन्थों का सार रसानुभूतिपूर्ण रूप में जनता तक पहुँचा कर और साथ ही निम्नातिनिम्न वर्ण के लोगों को भी अपनी लम्बभुजाओं में समेट कर भारतीय समाज की रक्षा के हेतु अद्भुत क्षमता प्रकट की। हिन्दी में ही नहीं, देश की विभिन्न भाषाओं में इस प्रकार का साहित्य प्रचुर मात्रा में रचा गया। कर्नाटक की वैष्णव-संत-परंपरा और वैष्णव-संत-साहित्य की कन्नड़-परंपरा में श्री पुरन्दरदास का महत्वपूर्ण स्थान माना जाता है। उनके दो-ढाई हजार भजन मिलते हैं जिनमें से श्री कुमेठकर ने प्रस्तुत पुस्तक में १०८ भजन और १ मंगल दिए हैं। परिशिष्ट में कुछ उपभोग भी हैं। कन्नड़ में आत्मानुभव की प्रतीति-प्राप्त भक्तों में पुरन्दरदास का नाम अत्यधिक आदर के साथ लिया जाता है। उनकी रचनाओं में मधुराभाव की अभिव्यक्ति हुई है। हिन्दी के संत-साहित्य की उनकी रचनाओं से बड़ी सुन्दर तुलना की जा सकती है। वैसे पुरन्दरदास मध्वानुयायी थे। श्री कुमेठकर जी ने हिन्दी में ऐसे प्रसिद्ध भक्त के जीवन और कृतित्व तथा उपासनापद्धति के साथ-सार्थ उनके भजनों का छोटा-सा संकलन प्रस्तुत कर निस्सन्देह अत्यन्त श्लाघनीय कार्य किया है। भजनों का अनुवाद हिन्दी में है। लेखक ने मूल भाव सुरक्षित रखने की सफल चेष्टा की है। श्री कुमेठकर जी की रचना से न केवल हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि हुई है, वरन् वह देश के लिए आवश्यक अन्तर्राजिकीय साहचर्य के लिए अत्यन्त सुन्दर कड़ी है। आशा है श्री कुमेठकर जी इस प्रकार की और भी रचनाएँ हमें देंगे। पुस्तक की छपाई शुद्ध और साफ है।

मानव मूल्य और साहित्य : लेखक--डा० धर्मवीर भारती; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, काशी ; मूल्य, ढ़ाई रुपया।

विगत बीस-पचीस वर्षों में संसार की वाह्य एवं आन्तरिक दोनों स्थितियों में एक संकट-काल उपस्थित हो गया है। जिस दिन हीरोशीमा और नागासाकी पर दो अणुबम गिराए गए उसी दिन से संसार में मानव-प्रेम और आदर्श की जड़ें हिल गईं और आधुनिक विचारकों के मन में मानवता के संतप्त जीवन के संबंध में अनेक तर्क-वितर्क उत्पन्न होने लगे। मानव-जीवन पर, मानवता के भविष्य पर एक बड़ा भारी प्रश्न-सूचक चिन्ह लग गया। जहाँ अणुबम गिराए भी नहीं गए वहाँ भी पिछले महायुद्ध के फलस्वरूप जीवन को अनेक विभीषिकाओं का सामना करना पड़ा। साथ ही व्यक्ति और समाज को लेकर, उनके परस्पर संबंध को लेकर, संसार की दो विचार-धाराओं का परस्पर संघर्ष जीवन को निरन्तर चेतावनी देता रहता है। मानवता के ऐसे संकट-काल में चिन्तकों, मनीषियों, विचारकों, कवियों और कलाकारों सभी का एक उत्तरदायित्व हो जाता है। यूरोपीय संस्कृति का एक क्रम पूर्ण हो चुका है और अब वहाँ 'स्पेस युग' की अवतारणा हो गई है। वहाँ की संस्कृति नवीन युग की प्रसूत-पीड़ा से व्यथित है। वहाँ के विचारकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से नवोत्पन्न समस्याओं पर विचार किया है और कर रहे हैं। डा० धर्मवीर भारती ने प्रस्तुत पुस्तक में उनके विचारों का अध्ययन कर अपने निष्कर्ष निकाले हैं और मनुष्य को केन्द्र मान कर समस्या के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। उन्होंने वर्तमान विघटन के समय में मानव-मूल्य की चर्चा की है। किन्तु पुस्तक में जहाँ संसार की वर्तमानकालीन

परिस्थिति का संबंध हिन्दी साहित्य से स्थापित करने की चेष्टा की गई वहाँ कुछ कमजोरी आ गई है। अनेक स्थलों पर लेखक से मत-वैभिन्य भी हो सकता है किन्तु इससे लेखक के विचारों का महत्व कम नहीं हो जाता।

अम्मीर इरादे–गरीब इरादे : लेखक––पंडित माखनलाल चतुर्वेदी; प्रकाशक––भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुंड रोड, काशी; मूल्य, दो रुपया।

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी कवि के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। 'साहित्य देवता' में उनके गद्य-लेखक-रूप के दर्शन हुए थे। उक्त पुस्तक का हिन्दी पाठकों ने अच्छा स्वागत किया था। प्रस्तुत पुस्तक चतुर्वेदी जी की द्वितीय गद्य पुस्तक है। किन्तु खेद का विषय है कि इसमें चतुर्वेदी जी की उस शैली और कला के दर्शन नहीं होते जो 'साहित्य देवता' में हैं। 'अमीर इरादे : गरीब इरादे' में ३३ लेख हैं जो समय-समय पर लिखे गए हैं। उनमें से कुछ गद्य काव्य-खण्ड, चर्चाओं और संस्मरणों के रूप में हैं। 'कविता जी में उतरकर', 'बाँसुरी के छिद्रों पर अंगुलियाँ', 'अमीर इरादे, गरीब इरादे', 'कला का दूसरा नाम–विद्रोह', 'सृजनात्मक आनन्दिनी–कला', 'बन्धुत्व', 'चिर-जागृत' हम कभी सोया नहीं करते !,' 'प्रेमचन्द' आदि लेख सुन्दर बन पड़े हैं। वे हमारे विचारों को उत्तेजना प्रदान करते हैं। लेखों में चतुर्वेदी जी के विचारक और कवि दोनों रूपों का सम्मिश्रण मिलता है। लेखक की भावुकता, जिज्ञासा, व्यंग्य आदि से पूर्ण शैली के दर्शन होते हैं। पुस्तक सुंदर और पठनीय है।

––(डा०) लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय

कबीर–एक विवेचन : लेखक––डा० सरनाम सिंह शर्मा; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली––६; मूल्य, १२ रुपये ५० न० पै०।

मध्यकालीन सन्तों एवं विचारकों में कबीरदास का बहुत गौरवपूर्ण, ऊँचा और विशिष्ट स्थान है। उनकी प्रसिद्धि मध्ययुग में ही हो चली थी; तभी तो पीपा और रैदास विस्मय से पुकार उठे थे––"नांव नवखण्ड परिसिध कबीरा" अर्थात् कबीर नवखण्ड और त्रिलोक में प्रसिद्ध हैं। उनकी प्रसिद्धि का एकमात्र कारण यही है कि भारतीय विचारधारा में जो कुछ वरिष्ट है, कबीर में सबका सम्मिश्रण है। उसमें उन अभारतीय विकारों का सम्मिश्रण भी है, जो भारतीय विचारों के प्रतिकूल नहीं रहे। प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं सब विचारों का पिष्टपेषण किया गया है।

कबीर-एक विवेचन का अध्ययन २४ अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। प्रथम चार अध्याओं में लेखक ने कबीर के अध्ययन संबंधी सामग्री, उनके जीवन-वृत्त, उनके समकालीन वातावरण तथा साहित्यिक वातावरण की रूपरेखा दी है। कबीर के अध्ययन संबंधी आधार में कबीर विषयक साहित्य का वर्णनात्मक परिचय दिया गया है, और उनके जीवन-वृत्त में उनकी जन्म तिथि और समय, स्थान, जाति, नाम, परिवार, गुरु, सद्गुरु, शिष्य, देशाटन, वैराग्य आदि की बातें बताई गईं हैं। उनके निरूपण में लेखक ने गवेषणापूर्ण तर्क उपस्थित किए हैं। कबीर के समकालीन वातावरण में वीर शैव सम्प्रदाय, शैवमत, शाक्तमत, शैव और वैष्णव मतों का सम्बन्ध, बौद्ध धर्म, नाथ पंथ, निरंजन सम्प्रदाय, इस्लाम और सूफीमत की विशद चर्चा

की गई है। तत्कालीन साहित्यिक वातावरण के अंतर्गत संध्या भाषा, सधुक्कड़ी, चौपाइयों और रमैनियों का परिचय दिया गया है।

पाँच से आठ अध्याओं में तत्कालीन वातावरण तथा सिद्धों और नाथों की परम्परा का कबीर पर प्रभाव तथा कबीर की आलोचना-पद्धति और उनके व्यक्तित्व की झाँकी चित्रित की गई है।

नवें अध्याय से तेईसवें अध्याय में कबीर की अध्ययन-सम्बन्धी वास्तविक सामग्री सुचारु रूप में रक्खी गई है। विविध दृष्टिकोणों से कबीर के विचारों का मूल्य आँका गया है। लोक-मंगल की साधना में कबीर के विविध उदात्त और क्रान्तिकारी विचारों पर लेखक ने विहंगम दृष्टि डाली है और यह भी बतलाया है उनकी वाणी लोक-काव्य की कसौटी पर कहां तक खरी उतरती है। तत्पश्चात् हिन्दी-कविता की प्रतीक-परम्परा में कबीर का योग, उनकी वाणी में समाज-चित्रण, उनकी प्रेम-साधना, भाषा, शैली और कवित्व, धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में उनका एकत्ववाद, उनके मानववाद एवं साम्यवाद, उनकी उलटवांसियाँ, उनकी प्रगतिशीलता, उनके रहस्यवाद, भारतीय भक्ति-परंपरा में उनकी भक्ति-भावना, उनके योग-दर्शन, उनके चिन्तन पक्ष तथा शून्य के विकास में उनके योग की विशद, व्यापक और गंभीर विवेचना की गई है।

चौबीसवें अध्याय में लेखक ने यह बतलाया है कि गांधी जी और कबीर एक ही पथ के दो पथिक रहे और उनकी साधना-प्रणाली समान रही। परिशिष्ट में कुछ पारिभाषिक शब्दों के परिचय दिए गए हैं और कबीर के कुछ समाज और दर्शन संबंधी प्रश्न दिए गए हैं।

लेखक ने इस पुस्तक में विद्वानों के मतों का खण्डन-मण्डन तर्कपूर्ण एवं युक्तायुक्त ढंग से किया है। कबीर की अध्ययन-संबंधी सामग्री सुन्दर ढंग से संजोई गई है और परिणामों पर तर्क के द्वारा पहुंचने की चेष्टा की गई है। इस पुस्तक में कबीर-विषयक उच्च सामग्री की प्रचुरता है। उच्च हिन्दी प्रेमियों के लिए पुस्तक सर्वथा संग्रहणीय है।

कबीरदास (अलोचनात्मक अध्ययन): लेखक—डॉ० विश्वम्भरनाथ उपाध्याय; प्रकाशक—रतन प्रकाशन मन्दिर, राजामंडी, आगरा; मूल्य, ३ रु० ७५ न० पै०)

प्रस्तुत पुस्तक कबीर के अध्ययन की नवीन कड़ी है। सर्व प्रथम कबीर की अध्ययन-विषयक सामग्री का संक्षिप्त विहगावलोकन किया गया है। लेखक ने इस पुस्तक में यह बताने का प्रयत्न किया है कि कबीर को समझने के लिए उपनिषदों की अपेक्षा अथर्ववेद को समझने की अधिक आवश्यकता है। लेखक का दृष्टिकोण सर्वमान्य नहीं है, किन्तु इसमें मौलिकता अवश्य है। इस पुस्तक में कबीर के रहस्यवाद के ऊपर लेखक की पैनी दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। कबीर के रहस्यवाद में नाम या मंत्र-साधना, प्रेम-साधना, परिचय अथवा मिलन, अजपा जाप, हठयोग, उन्मनावस्था, सहजावस्था आदि का अपूर्व सम्मिश्रण है। इस प्रकार उनका रहस्यवाद विचारात्मक की अपेक्षा साधनात्मक अधिक है। लेखक ने पुस्तक में कबीर के काव्य-सौन्दर्य पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डाला है। काव्य-सौन्दर्य के वाह्य-पक्ष के अंतर्गत कबीर के अलंकारों,

रूपकों, उलटवाँसियों, अमूर्त्त धारणाओं के मानवीयकरण, प्रयोगों की निश्चिन्तता, रुचि के प्रश्नों आदि पर बारीकी से विचार किया गया है। उदाहरणों, उद्धरणों एवं तुलनात्मक अध्ययन से विषय-प्रतिपादन सुस्पष्ट हो गया है। आन्तरिक पक्ष में कबीर की संदेहशीलता को अनेक पहलुओं से समझाने की चेष्टा की गई है। लेखक ने यह भी बतलाया है कि कबीर के काव्य में प्राकृतिक सौन्दर्य और जीवन-सौन्दर्य का अनुपम सम्मिश्रण है। कबीर के काव्य में लोक-जीवन का दिव्य स्पर्श है और साथ ही उसमें उच्च मानसिक स्थितियों का निरूपण है। कबीर के काव्य में चित्रित, श्रद्धा, उद्बोधन, वैराग्य भावना, निश्चित ही मानव-हृदय को उच्च भूमि में स्थिति करती हैं। ज्ञान और विरह मानव-मन को प्रबुद्ध करने के लिए निश्चित साधन हैं। मिलन की स्थिति अनुभवगम्य ही बतलाई गई है, यह वाणी का विषय नहीं। किन्तु कबीर की वाणी ने इसका हृदयग्राही चित्रण किया है। कबीर की योगमूलक भावना से उनके काव्य में अत्यधिक सौन्दर्य आ गया है। इस प्रकार लेखक ने कबीर के काव्य पर स्वतंत्र और मौलिक ढंग से विचार किया है।

पुस्तक के अन्त में कबीर के सामाजिक योगदान की चर्चा विशद-रूप में की गई है। परिशिष्ट में कबीर द्वारा प्रयुक्त कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थ दिए गए हैं--यथा, 'सबद', 'उन्मना', 'चौहट और चिन्तामणि', 'सुरति-निरति', 'अनहद नाद', 'सहज' 'सुन्न' 'नाद विन्दु', 'राम रस' आदि। संत-साहित्य एवं कबीर साहित्य के अध्येताओं के लिए पुस्तक संग्रहणीय है।

--(डॉ०) जयराम मिश्र

विद्यापति का अमर काव्य: लेखक--श्री राजनाथ शर्मा, एम० ए०, प्रकाशक--रतन प्रकाशन मन्दिर, राजामंडी, आगरा; मूल्य चार रुपये।

हिन्दी के अमर कवियों में मैथिल-कोकिल विद्यापति का प्रमुख स्थान है। बी० ए० तथा एम० ए० के हिन्दी-पाठ्यक्रमों में उनकी रचनाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। लेखक ने इसी दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक की रचना की है। पूरी पुस्तक दो भागों में विभाजित की गई है। आरंभ के ११६ पृष्ठों में आलोचना है जिसके अन्तर्गत विद्यापति के जीवन, उनके सम्प्रदाय तथा उनके काव्य के विभिन्न पक्षों पर बड़ी गंभीरता पूर्वक विचार किया गया है। इसके पश्चात् दूसरे भाग के १७५ पृष्ठों में पदों की व्याख्या है। इससे स्पष्ट है कि लेखक ने 'विद्यापति-पदावली' की आलोचना और व्याख्या को ही अपनी प्रस्तुत पुस्तक में स्थान दिया है। उच्च कक्षा के हिन्दी-विद्यार्थी 'विद्यापति-पदावली' का ही विशेष रूप से अध्ययन करते हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक उपयोगी है। लेखक ने दोनों भागों के प्रणयन में विद्यार्थियों की कठिनाइयों पर विशेष रूप से ध्यान दिया है। कठिन 'शब्दों' के अर्थ देकर उन्होंने 'पदावली' के अध्ययन की एक बहुत बड़ी समस्या हल कर दी है। स्वतंत्र रूप से 'पदावली' का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को इस पुस्तक से अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

१. महाकवि बिहारी २. कबीर--प्रथम के लेखक--श्री रामगोपाल शर्मा 'दिनेश' एम० ए० श्री नानकचन्द्र, एम० ए०; द्वितीय के लेखक--प्रो० भारत भूषण 'सरोज' एम० ए० और

प्रो० श्री निवास शर्मा एम० ए०; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली; मूल्य, प्रत्येक का २ रु० ५० न. पै.।

उक्त दोनों पुस्तकें हिन्दी की उच्च परीक्षाओं में बैठने वाले विद्यार्थियों के लाभार्थ प्रश्नोत्तर रूप में लिखी गई हैं। आरंभ में प्रश्नों की सूची दी गई है और बाद को उन्हीं प्रश्नों के उत्तर दिए गये हैं। प्रश्न वही हैं जो परीक्षाओं में प्रायः पूछे जाते हैं। लेखकों ने उन सभी प्रश्नों को क्रम से आयोजित कर जिस भाषा और शैली में उनका उत्तर दिया है वह विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त और लाभप्रद है। कवियों के जीवन और उनके कृतित्व का परिचय कराने के लिए इस प्रकार की पुस्तकों का विशेष महत्व होता है। ऐसी पुस्तकों में प्रश्नों का उत्तर देते समय अधिक विस्तार में न जाना चाहिए। प्रश्न विशेष का उत्तर यदि उतना ही दिया जाय जितना एक निश्चित समय के भीतर दिया जा सकता है तो उससे पुस्तक की उपयोगिता बढ़ जाती है। उक्त पुस्तकों के प्रणयन में लेखक गण विस्तार में जाने का लोभ संवरण नहीं कर सके। विस्तृत अध्ययन की दृष्टि से उत्तर उपयोगी हैं; इसमें सन्देह नहीं। विद्यार्थियों को इन पुस्तकों से अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

आलोचना तथा काव्य : लेखक——डा० इन्द्रनाथ मदान; प्रकाशक——राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, दो रुपये पचास नये पैसे।

डा० इन्द्रनाथ मदान हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने शुक्लोत्तर आलोचना की पद्धतियों और उत्तर छायावादी काव्य की प्रवृत्तियों का बड़ी गंभीरता पूर्वक विश्लेषण किया है। इस दिशा में उनका यह प्रयास प्रशंसनीय है। शुक्लजी के पश्चात् हिन्दी-आलोचना का विकास जिन पद्धतियों के आधार पर किया गया है उनमें स्वच्छन्दवादी पद्धति, मार्क्सवादी पद्धति तथा मनोविश्लेषणवादी पद्धति का प्रमुख स्थान है। विद्वान लेखक ने इन सभी पद्धितियों पर सुन्दर दृष्टि से विचार किया है। इसी प्रकार उत्तर छायावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ शीर्षक निबन्ध भी लेखक के गंभीर अध्ययन, चिन्तन और संतुलित दृष्टिकोण का प्रमाण है। हिन्दी में इस प्रकार की सस्ती किन्तु सुन्दर और उपयोगी रचनाओं की अत्यन्त आवश्यकता है।

१. सन्यासी २. मृगनयनी : लेखक—श्री रुद्रदेव शर्मा एम० ए० शास्त्री; द्वितीय के लेखक—श्री ओमप्रकाश सिंघल, एम० ए० और श्री श्यामनारायण पाण्डेय; प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली; प्रत्येक का पुस्तक का मूल्य, १ रु० ५० न. पै.।

'संन्यासी' इलाचंद जोशी का प्रसिद्ध उपन्यास है। मनोविश्लेषणात्मक धारा के उपन्यासों में इसका अपना स्थान है। 'मृगनयनी' श्री वृन्दावनलाल वर्मा का प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यास है। ये दोनों उपन्यास हिन्दी के पाठ्यक्रमों में सम्मिलित हैं। लेखकों ने विद्यार्थियों की सुविधा के लिए प्रश्नोत्तर रूप में इन दोनों उपन्यासों पर सामग्री एकत्र की है। इसलिए इन प्रश्नोंत्तरियों का विद्यार्थियों के लिए विशेष महत्व है। उन्हें इनसे लाभ उठाना चाहिए।

——राजेन्द्रसिंह गौड़, एम० ए०

सफलता के आठ साधन : लेखक——जेम्स एलन; प्रकाशक——हिन्दी पाकेट बुक्स, शाहदरा दिल्ली; मूल्य, एक रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक सुप्रसिद्ध विचारक जेम्स एलन की कृति का हिन्दी रूपान्तर है। इन दिनों सफल व्यक्ति वह माना जाता है जो वैभवादि के साधनों से समृद्ध हो, किन्तु लेखक की दृष्टि में सफल मानव वह है जिसका व्यक्तित्व सदाचार सम्पन्न हो। यह एक मौलिक प्रश्न है कि समृद्धि के साधनों में जीवन की सार्थकता है अथवा उसके चरित्रबल की दृढ़ता में। आशा है, इसका निर्णय करने में पाठक को इस पुस्तक द्वारा पर्याप्त सहायता मिल सकेगी।

विचार-तरंग : लेखक——प्रो० दीवानचन्द्र शर्मा; प्रकाशक——राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली; मूल्य, २ रु० ५० न० पै०।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक की 'स्वान्तः सुखाय' रचना होकर भी लोकोपयोगी है। ये विचार व्यक्तियों और घटनाओं से ही अधिकतर सम्बद्ध हैं। परन्तु इसमें सब के सब विचार ही नहीं हैं, भाव भी सम्मिलित हैं। लेखक के भाव अथवा विचार परंपरागत अधिक जान पड़ते हैं। नवीन परिस्थिति के परिवर्तनशील मूल्यों की ओर यथेष्ट ध्यान दिया गया नहीं लगता। फिर भी, इस पुस्तक की उपयोगिता अपनी सीमा में असंदिग्ध है।

जानने की बातें (प्रकृति विज्ञान) : सम्पादक——श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय; प्रकाशक——राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; मूल्य, दो रुपया पचास न० पै०।

प्रस्तुत पुस्तक 'जानने की बातें' का पहला भाग है जिसके अन्तर्गत प्रकृति सम्बन्धी विषयों का समावेश है। बंगला में लिखी गई मूल पुस्तक का अनुवाद सुन्दर बन पड़ा है। विद्यार्थियों तथा सामान्य जिज्ञासुओं के काम की है। चित्रों द्वारा पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

लोकतांत्रिक समाजवाद : लेखक——श्री अशोक मेहता; प्रकाशक——अ० भा० सर्व सेवा संघ, प्रकाशन, काशी; मूल्य, १ रु० ५० न० पै०।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक जाने-माने समाजवादी नेता हैं जिनके विचारों का महत्व हो सकता है। लेखक ने मार्क्सवाद और गांधीवाद को दृष्टिगत रखते हुए आनुषंगिक विषयों पर अपना मत प्रकट किया है। नैतिकता के प्रति उसका आग्रह स्पष्ट है। वह उद्देश्य तथा उपलब्धि के साधनों की पवित्रता में अपनी आस्था प्रकट करता है। लेखक की मान्यताएं विचारणीय हैं। आशा है, यह पुस्तक उन पाठकों के विशेष काम की होगी जो राष्ट्रोत्थान के लिए चिन्तन किया करते हैं।

करील-कुंज : श्री वासुदेव गोस्वामी; प्रकाशक——गोस्वामी पुस्तक सदन, पारखजी का बाड़ा, लश्कर (ग्वालियर); मूल्य, एक रुपया।

श्री वासुदेव गोस्वामी ब्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि एवं साहित्यिक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उनकी २८ स्फुट रचनाएं संकलित हैं जिनका सम्बन्ध भक्ति, शृंगार, वीर और हास्य-रस से है। सहृदय पाठकों के लिए इस पुस्तक में पर्याप्त रोचक सामग्री है।

——नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

जगन्नाथदास रत्नाकर और उद्धवशतक (एक परीक्षण) : लेखक--डा० विश्वनाथ उपाध्याय तथा प्रोफेसर केशवदेव तिवारी, एम० ए०; प्रकाशक--रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा; मूल्य, तीन रुपया आठ आना।

रत्नाकर जी का 'उद्धव शतक' विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में स्वीकृत है। परीक्षार्थियों को दृष्टि में रख कर विस्तृत व्याख्या और प्रश्नोत्तर शैली में इसे लिखा गया है। इसमें रत्नाकर जी के जीवन और कृतित्व के सम्बन्ध में एक विस्तृत भूमिका भी दे दी गई है। पुस्तक विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है।

विभूति सतसई : लेखक--श्री कुलदीपनारायण 'झड़प'; प्रकाशक--हिन्दी साहित्य परिषद्, लिलकर, बलिया; मूल्य, डेढ़ रुपया।

भारतीय साहित्य में सतसई की परम्परा पुरानी है। प्राकृत में वज्जा लग्ग, जिसमें भाषाओं की संख्या ७९४ है, सम्भवत: प्रथम ज्ञात सतसई काव्य है। इसके पश्चात् हाल की गाथा सप्तशती की रचना हुई।

इस परम्परा में संस्कृत में आर्या सप्तशती, दुर्गा सप्तशती आदि ग्रंथ भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। हिन्दी में तुलसी, रहीम, बिहारी, मतिराम, वृन्द आदि की सतसइयाँ प्राप्त होती हैं। आधुनिक काल में वियोगी हरि की 'वीर सतसई' को ख्याति मिली है। झड़प जी ने इस परम्परा को और आगे बढ़ाया है। इनकी विभूति-सतसई इस परम्परा की एक महत्वपूर्ण कड़ी समझी जायेगी। भोजपुरी क्षेत्र के रहने वाले कवि श्री झड़प जी ने बड़ी कुशलता के साथ इन दोहों की रचना ब्रजभाषा में की है। विभूति-सतसई में नीति और वैराग्य के दोहों की प्रधानता है। नावक के तीर की भांति ये दोहे भी गहरे घाव करने वाले हैं।

अभियान : रचयिता--श्री शशिभूषण पाण्डेय; पुस्तक मिलने का स्थान--आदर्श पुस्तक भण्डार, कलकत्ता; मूल्य, डेढ़ रुपया।

श्री शशिभूषण पाण्डेय की प्रथम कृति अभियान महाभारत पर आधारित है। कवि की दृष्टि में न्याय की प्रतिष्ठा किये बिना संसार का कल्याण नहीं हो सकता। अन्याय को मिटाने के लिए युद्ध भी धर्म युद्ध है। पहली रचना होते हुए भी कवि ने अपनी भाषा को संवारा है और उसमें कवित्व लाने की चेष्टा की है। कवि में प्रतिभा है, आशा है वह भविष्य में और प्रौढ़ कृतियाँ हिन्दी को दे सकेंगे।

शायिरी के नये दौर (चौथा दौर) : लेखक--श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय; प्रकाशक--भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; मूल्य, तीन रुपये।

उर्दू की शायरी के प्रचुर अंश को नागरी लिपि में लाकर श्री गोयलीय ने उन पाठकों की बड़ी सेवा की है जिनका फारसी लिपि से कम परिचय है। प्रस्तुत दौर में सम्पादक ने अख्तर, अदम, एहसान दानिश आदि तीन कवियों की चुनी हुई शायरी को प्रस्तुत किया है। इन कवियों का परिचय भी दिया गया है और उनकी काव्यगत विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला गया है। उर्दू साहित्य के आधुनिक काल के ये शायर बड़े मशहूर हैं। अख्तर शीरानी की शायरी में इश्क का तरन्नुम है तो

अदम की शायरी में शराब, हुस्न और आशिकाना जज्बात हैं। दूसरी तरफ़ दानिश इनकलाबी शायर हैं। इस संग्रह में इन शायरों की उत्कृष्ट रचनाएं दी गई हैं। कठिन शब्दों के अर्थ भी साथ ही दिये गये हैं।

क्षणों के धागे : लेखक—डा० कन्हैयालाल 'सहल'; प्रकाशक—वानर प्रकाशन, जयपुर; मूल्य, सवा रुपया।

श्री 'सहल' जी की फुटकर कविताओं का संकलन 'क्षणों के धागे' में प्रस्तुत किया गया है। 'अंधकार को आग लगा दी', 'नाम अंकित किया चन्द्रमा पर', 'तू जीता हम हारे', 'मैं हूँ पांच हज़ार वर्ष का', इस संग्रह की कुछ उत्कृष्ट रचनाएं हैं। संग्रह के प्रारम्भ में सहल जी ने तानाबाना के अन्तर्गत अपनी कविताओं की एक समीक्षा भी की है जिसमें उन्होंने स्वयं कहा है—"क्षणों के धागे में राग की अपेक्षा विचार पक्ष की प्रधानता होने के कारण इसे काव्य का नाम देने में कार्पण्य से ही काम लेना चाहता हूँ किन्तु वर्तमान युग की बौद्धिकता के प्रति आश्वस्त हो कर ही मैं इस रचना को सहृदय पाठकों के हाथों में सौंप रहा हूँ—" ये कविताएं एक समर्थ आलोचक की हैं। इसी दृष्टि से इनको पढ़ने में आनन्द मिल सकेगा।

—(डॉ०) श्याममनोहर पाण्डेय

प्रेमिकाएं : लेखक—श्री विश्वम्भर 'मानव'; प्रकाशक—किताब महल, इलाहाबाद; मूल्य, पाँच रुपया।

'मानव' जी के इस उपन्यास की अनेक पत्रों में चर्चा हो चुकी है। इसके अतिरिक्त इस पर अनेक पाठकों के विचार भी सुनने को मिले हैं। अपनी इस कृति के संबंध में लेखक का कथन है कि यद्यपि प्रस्तुत विषय पर अनेक उपन्यास अब तक हिन्दी में लिखे जा चुके हैं; किन्तु उनमें जान-बूझ कर उस बात को छिपाया गया है, जो प्रणय के कोमल मूल पर कुठाराघात करते हैं। प्रणय के इस कोमल मूल को जानने के लिए स्वयं लेखक जीवन भर आकुल रहा है; और इसीलिए अपनी इस कृति में उसने जो-कुछ कहा है उसमें उसके अन्तःकरण की पूरी आस्था और ईमानदारी प्रगट होती है।

लेखक की इस प्रतिज्ञा को ध्यान में रख कर यदि प्रस्तुत उपन्यास पर विचार किया जाय तो मानना पड़ेगा कि उसकी कुछ अवान्तर घटनाओं को छोड़ कर—जो कि स्पष्ट रूप से मुख्य कथानक के साथ अपने को नहीं खपा पाई हैं और जिनके कारण कहीं-कहीं उपन्यास की सहज गति में अनावश्यक बाधा पैदा हो गई है—प्रायः प्रमुख घटनायें अपने अन्तराल की किसी मार्मिकता को स्पष्टतर करती हुई आगे बढ़ी हैं।

ऊपन्यास एक अंचल विशेष को लेकर लिखा गया है, जिसका क्षेत्र कानपुर है और जिसकी कथा का समय चार वर्ष है। उपन्यास का नायक जगदीश नाम का युवक है, जिसका चरित एक असफल प्रेमी के रूप में उभरा है। उसकी भीतरी दुर्बलता, किन्तु बाहरी वाचालता है और उसके दायित्व रहित व्यवहार प्रायः उसके अच्छे कार्यों को भी ढँक लेते हैं। इन्दु कुँवरी, नयनतारा, प्रीति, सीमा, शारदा, बानू और कालिन्दी आदि अनेक महिलाओं ने प्रेमिका बन कर उसके जीवन

में प्रवेश किया, किन्तु उनमें से किसी को भी वह अपनी सहचरी न बना सका। ऐसा इसलिए हुआ कि कुछ को तो वह स्वयं ही पसन्द नहीं करता और कुछ को चाहते हुए भी अपना न बना सका। यद्यपि उसकी ये सभी प्रेमिकायें किसी न किसी की परिणीता हो गई; और वह कोरा प्रेमी बन कर के ही रह गया; किन्तु उसके भावुक मन पर अन्त में जो प्रतिक्रिया हुई, जिसके कारण उसको कानपुर छोड़ना पड़ा, उससे उसके जीवन में एक नया मोड़ आया, जिसको कि लेखक ने अकथ ही छोड़ दिया।

नयनतारा का चरित्र निश्चित ही असाधारण है। वह वेश्या है; उसका यह वेश्या-जीवन सर्वथा प्रच्छन्न और असामान्य है। जिस रूप में जगदीश के साथ उसका व्यवहार है और जिस ढंग से उसने सामाजिक पवित्रता को अपने मलिन चरित्र की परछाइयों से बचाया वह श्लाघ्य है। आदि से लेकर अन्त तक उसका नारी जीवन एक जैसी शालीनता से पूरित है। जगदीश ने उसी के आश्रय में रह कर शिक्षा प्राप्त की; किन्तु चाहने पर भी वह जगदीश के आगे आत्म-समर्पण की बात को स्पष्ट रूप में न रख सकी।

संक्षेप में कहा जाय तो कई स्थलों पर अनावश्यक विस्तार के बावजूद भी उपन्यास में सुन्दर संवाद हैं। भाषा उपन्यास के अनुरूप है। शैली में शिल्प की उलझन न होते हुए भी कहीं-कहीं कथानक की पूर्णपीठिका में उलझे रहने का लोभ अवश्य है। कथानक उत्तरोत्तर अधिक प्रभावशाली और चुस्त है। ४८ वें अध्याय (२९३ पृष्ठ के बाद) का अंश सर्वोत्कृष्ट है।

गाँधी-चरित-मानस (उद्योग काण्ड) : लेखक——श्री बालजी गोविन्दजी देसाई; प्रकाशक——नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद; मूल्य, ५० न० पै०।

'गाँधीचरितमानस' के प्रस्तुत उद्योगकाण्ड से पहले बालकाण्ड प्रकाशित किया जा चुका है, जिसमें गाँधीजी के जन्म से लेकर दक्षिण अफ्रीका के प्रयाण तक की संक्षिप्त कथा दी गई है। प्रस्तुत काण्ड में गाँधीजी के जीवन का दक्षिण अफ्रीका की पहली यात्रा से लेकर भारत में आकर पुनः पत्नी और बालकों के साथ दक्षिण अफ्रीका के लिए प्रस्थान करने तक का विवरण प्रस्तुत किया गया है। गाँधीजी की आत्मकथा का यह भाग, जो कि इस काण्ड में दिया गया है, सबसे अधिक महत्व का है। गाँधीजी की दक्षिण अफ्रीका की यात्रा वस्तुतः एक महान् घटना थी, जहाँ उन्होंने अनेक अपमान, लांछन और पीड़ायें सहीं; किन्तु जिनके कारण उनके जीवन का महापथ निर्मित हुआ। डरबन की एक अदालत में मजिस्ट्रेट ने जब उन्हें पगड़ी उतारने के लिए कहा तो उन्होंने अदालत को ही छोड़ दिया। बाद में वहाँ के अखबारों में गाँधीजी की पगड़ी पर बड़ी चर्चा हुई। डरबन से कार्यवश उन्हें प्रिटोरिया जाना पड़ा। रेल में जाते समय गोरे लोगों ने उन पर इतना अत्याचार किया कि उन्हें मारा-पीटा और पहले दर्जे का टिकट होने पर भी उन्हें तीसरे दर्जे में बैठने के लिए विवश किया। यह उनके स्वाभिमान की लड़ाई थी।

धर्म और मर्यादा के वे इतने कट्टर पक्षपाती थे कि माता की दी हुई वैष्णवी कंठी को उन्होंने किसी भी शर्त पर नहीं उतारा। अपने वकालत-जीवन के संबंध में उन्होंने लिखा है कि "वकील

का कर्तव्य दोनों पक्षों के बीच पड़ी हुई खाई को पाटना है। इस शिक्षा ने मेरे मन में ऐसी जड़ जमाई कि बीस साल की वकालत का मेरा अधिकांश समय अपने दफ्तर में बैठकर सैकड़ों मामलों को आपस में सुलझाते ही बीता। उसमें मैंने कुछ खोया नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मैंने पैसा खोया। आत्मा तो खोई ही नहीं।" उनकी इस आत्मरक्षा, स्वाभिमान की लड़ाई और मानवीय अधिकारों के संस्मरण इस पुस्तिका में संकलित किये गये हैं।

तरंगिनी : लेखक—श्री चन्द्रकिशोर पाण्डेय 'धुआँधार' मिरजापुरी; प्रकाशक—साहित्य पारिजात समिति, मिरजापुर; मूल्य, १ रुपया ५ आना।

श्री चन्द्रकिशोर पाण्डेय **'धुआँधार'** मिरजापुरी नये कवि हैं और उनका यह प्रथम कविता-संकलन है। इस संग्रह की कवितायें कुछ तो व्यंग्यात्मक, कुछ सामाजिक और कुछ राजनीतिक हैं। प्रचारात्मक ढंग के लिखे हुए कुछ लोकगीत भी कवित्व शैली में हैं। आशा है श्री 'धुआँधार' जी उत्तरोत्तर अच्छी कवितायें लिखकर तथा उन्हें प्रकाश में लाकर साहित्य की सेवा करेंगे।

--वाचस्पति गैरौला

मनोविनोद : लेखक--श्री आनन्दकुमार; प्रकाशक--राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य, दो रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक स्वस्थ मनोरंजन की दृष्टि से लिखी गई है, और इसके शिष्य हास्य का आस्वादन परिवार के सभी प्राणी एक साथ कर सकते हैं। पूरी पुस्तक में कहीं भी ऐसा कोई अवतरण नहीं है जिसमें नग्न शृंगार अथवा ओछी मनोवृत्ति का समावेश हो। मनोरंजन के साथ-साथ हास्य में लिपटी हुई शिक्षा सभी के लिए उपयोगी है, वैसे बुकस्टालों की सस्ती पुस्तकों को पढ़कर समय बिताने वाले बाबुओं अथवा विद्यार्थियों को ऐसी पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए। हिन्दी साहित्य में मनोरंजन की दृष्टि से बहुत कम पुस्तकें लिखी गई हैं, प्रस्तुत पुस्तक से भी यह कमी पूरी नहीं होगी, हाँ यह प्रयास हल्का ही सही, किन्तु अच्छा है। पूरी पुस्तक हासपरिहास, बड़े आदमियों की बातें, कवियों और लेखकों की बातें, पुराणों की कुछ रोचक बातें, अनोखा शब्दकोष, काव्य विनोद एवं काव्य कौतुक जैसे पन्द्रह अवतरणों में विभाजित है। सामग्री का चयन, छपाई, टाइप सभी कुछ सुन्दर है, किन्तु पुस्तक का जो रूप सामने है, उसे देखते हुए इसका मूल्य अधिक है।

मणि बहन पटेल के नाम : सम्पादिका--मणि बहन पटेल; प्रकाशक--नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद - १४; मूल्य, डेढ़ रुपए।

गाँधीजी के विचारों को हमारे सामने रखने के लिए नवजीवन प्रकाशन जितना काम कर रहा है, वह स्तुत्य है। अपने जीवन काल में गाँधीजी ने अपने सम्पर्क में आने वाले अनेकों भाग्यशालियों को विविध विषयों पर अनेकों पत्र लिखे थे। निश्चय ही राष्ट्रपिता के हाथ से लिखे गए वह महत्वपूर्ण पत्र राष्ट्र अथवा व्यक्ति-निर्माण की दृष्टि से अपना एक खास स्थान रखते हैं। प्रस्तुत पुस्तक बापू के पत्रों के संग्रह की चौथी माला है, और पुस्तक के नाम से ही प्रकट है कि बापू के यह पत्र मणि बहन के नाम हैं। मणि बहन और बापू का यह पत्र व्यवहार

सन् २१ से सन् ४८ तक चलता रहा है। फलतः गाँधीजी के जीवन की बहुत-सी ऐसी मर्मस्पर्शी बातें इन पत्रों में आ गई हैं, जिनकी जानकारी बहुत कम लोगों को होगी, दूसरे उक्त दोनों तिथियाँ भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की दो सीमाएँ हैं, फलतः देश की राजनैतिक गतिविधि की भी झाँकी इन पत्रों से मिलती है। इन सबसे ऊपर इन पत्रों में एक वत्सल पिता के सात्विक सरल स्नेह की झाँकी मिलती है। ऐसे पत्रों के प्रकाशन का उपक्रम सर्वथा प्रशंसनीय है।

बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र: संग्रहकर्ता—श्री वियोगी हरि; प्रकाशक—कुटीर प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली–९; मूल्य, डेढ़ रुपया।

अपने नाम लिखे गए, महात्मा गांधी, महादेव देसाई, किशोरलाल मशरूवाला, ठक्कर बापा, विनोबा जी तथा पूज्य टण्डन जी के कुछ पत्रों का संग्रह श्री हरिजी ने प्रस्तुत पुस्तक द्वारा किया है, साथ ही पत्रों की गति विधि मिलाने के लिए उन्होंने प्रत्येक पत्र का सन्दर्भ भी उनके ऊपर नीचे दे दिया है, जिससे उन पत्रों को समझने में सुविधा तो होती ही है, साथ ही उनके अन्दर निहित प्रभाव या उनसे मिलने वाली प्रेरणा भी स्पष्ट हो जाती है।

श्री हरिजी से साहित्यिक जगत भलीभांति परिचित है, वह अपने बीच उन्हें पाकर आश्वस्त होता है, और उनके सरस एवं सशक्त लेखनी का सम्मान करता है, किन्तु साहित्य सेवा के साथ साथ, हरिजन सेवा में, एकाग्रनिष्ठा के साथ उनका कितना समय बीता है, या बीत रहा है, इसे इन कुछ ही पत्रों को पढ़ कर भलीभांति जाना जा सकता है। इन बड़े लोगों के पत्रों का चयन कुछ इस रीति से किया गया है कि इनके द्वारा श्री हरिजी के जीवन के कितने खुले, मुँदे पृष्ठों की जानकारी भी हो जाती है।

पत्र बड़ों के हैं, संग्रह श्री वियोगी हरि ने किया है, फिर इस पुस्तक की उपयोगिता में सन्देह किसे होगा ? पत्र साहित्य के कई प्रकाशन अन्यत्र भी हुए हैं, किन्तु सन्दर्भ के साथ पत्रों को प्रकाशित करने का यह प्रयास सुबोध है, आकर्षक है और विषय की अन्तरात्मा तक पहुँचा कर सन्तुष्टि देने वाला है।

आशा का एकमात्र मार्ग: लेखक—रिचर्ड वी० ग्रेग, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद—१४, मूल्य, दो रुपये।

राजनैतिक दृष्टिकोण से लिखी गई, उक्त पुस्तक चिन्तन के क्षेत्र में एक अभूत पूर्व प्रयोग है। पूँजीवाद, साम्यवाद तथा गांधीजी के दृष्टिकोण की पूरी समीक्षा वर्षों के मनन चिन्तन के बाद इस पुस्तक के माध्यम से प्रस्तुत की गई है। लेखक का भारत से प्रेम है, वह पराधीन भारत को देख चुका है और आज के स्वतंत्र भारत को देख रहा है, उसके औद्योगिककरण को भी देख रहा है तथा यह देख रहा है कि भौतिक समृद्धि के मोह में अन्य देशों के अनुकरण पर हम कहां जा रहे हैं, यह स्पष्ट है कि गांधी जी के दृष्टिकोण से वह प्रभावित है और आशा का एकमात्र सूत्र वह निश्छल आत्मा की पुकार को मानता है। इस एक ही पुस्तक में इन सभी वादों का जिस तटस्थता के साथ समीचीन विवेचन किया गया है वह लेखक के गम्भीर

अध्ययन का परिणाम है, अतः एक ही स्थान पर ज्ञान विज्ञान की इतनी सामग्री एकत्रित हो गई है कि साधारण प्रयास से कोई भी पाठक अन्तराष्ट्रीय पृष्ठभूमि पर प्रचलित सभी समस्याओं से परिचय प्राप्त कर सकता है।

विचार दर्शन (दूसरा भाग) : मूल लेखक––श्री केदारनाथ जी; गुजराती अनुवादक––श्री रमणीक लाल मोदी; हिन्दी अनुवादक––श्री रिषभदास जी रांका; प्रकाशक––नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद–१४, मूल्य, डेढ़ रुपया।

प्रस्तुत पुस्तक ध्येयनिष्ठ जीवन, जीवन की सार्थकता, जीवन और जीवन शुद्धि, श्रेष्ठ जीवन की शिक्षा, जैसे चौबीस शीर्षकों में विभाजित है, और सभी शीर्षक मानव को सफलता की ओर उत्प्रेरित करने की अमोघ कुंजी के रूप में सरल भाषा एवं नन्हें-नन्हें वाक्यों के माध्यम से प्रस्तुत किए गए हैं। आज के इस भौतिक समृद्धि की आपाधापी में, यह पुस्तक जहां जीवन की शुद्धि को ही महत्व देने वाले जिज्ञासुओं को लाभप्रद है वहां कर्तव्य के चौराहे पर खड़े किंकर्तव्य विमूढ़ तरुणों के लिए भी एक प्रकाश रेखा है। जीवन का वास्तविक सुख क्या है? उसे हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? किस प्रकार हम अपने को एक सुयोग्य नागरिक कह सकते हैं, अथवा कैसे हम विश्व-बन्धुत्व के विस्तृत क्षेत्र में अपना योग दान दे सकते हैं, आदि सभी समस्याओं का समीचीन एवं सन्तोषप्रद उत्तर इस पुस्तक से मिल जाएगा। नाथ जी का प्रत्येक सिद्धान्त अन्तर को छूने वाला है, उनके पठन मात्र से जीवन में निर्मलता आयेगी, यदि उनका अनुसरण किया जाय तो मानव कल्याण की भावना असम्भव नहीं रह जाएगी।

आवाज : लेखक––श्री केशव सागर एम० ए०, बी० टी०; प्रकाशक––राजपाल एण्ड संस दिल्ली––६; मूल्य, सवा रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक के नाम से ही जाना जा सकता है कि वह ध्वनिविज्ञान के ऊपर लिखी गई है। विद्वान लेखक ने साफ़ सुबोध भाषा में ध्वनिविज्ञान की एक एक बारीकी को उदाहरण देकर समझाया है, और अन्त में वह रेडियो, ग्रामोफोन, सिनेमा तथा टेलीफोन के द्वारा आवाज़ को संग्रहीत करने तथा उसे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाने की प्रक्रिया का विवेचन किया है। बालकों की बुद्धि के अनुरूप लिखी गई यह बालोपयोगी पुस्तक सुन्दर है और आज की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति करती है।

मास्टरजी : लेखक––श्री आनन्द प्रकाश जैन; प्रकाशक––आतमाराम एन्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली; मूल्य, डेढ़ रुपए।

प्रस्तुत पुस्तक तीन अंकों का एक सामाजिक नाटक है। कथावस्तु, हरिजनोद्धार को सामने रख कर निर्मित की गई है और उसका चयन उस अपढ़ देहात से किया गया है जहां चौधरी का आतंक, पुरोहित की अंधी धर्म व्यवस्था, अछूतों को पशु से भी हीन समझने की प्रवृत्ति तथा गुंडों के आतंक से भले आदमियों को सांस लेनी दूभर है। नाटक के नायक के रूप में, सृष्टि के सभी प्राणियों को आत्मवत् समझने वाले, एक आदर्शवादी, प्रारम्भिकशाला के मास्टर की अवतारणा की गई है, जिसका चरित्र बहुत ही सफलता के साथ अंकित किया गया है।

नाटक की सफलता उसके अभिनय में है, प्रस्तुत पुस्तक इस दृष्टि से बहुत ही सफल है, एक ही सेट या एक ही पर्दे पर बड़ी सफलता के साथ यह नाटक खेला जा सकता है। गांवों में प्रचलित कितनी ही बुराइयों के नग्न रूप को सामने लाकर, उनके परिणाम से भी परिचित कराने वाला यह नाटक सामयिक और समीचीन है। नाटक का अन्तिम दृश्य इतना करुण और प्रभावशाली है कि उसकी छाप देखने वाले के दिल पर बहुत दिनों तक स्थायी रहेगी। ऐसी रचनाओं की आवश्यकता है।

--रामकीर्ति द्विवेदी

भारतीय भाषा विज्ञान : लेखक--श्री किशोरीदास वाजपेयी; प्रकाशक--चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी; मूल्य, ६ रुपया २५ न० पै०।

भाषा-विज्ञान के संबंध में पाश्चात्य साहित्य में उच्चकोटि की पुस्तकें उपलब्ध हैं किंतु हिन्दी में इनी-गिनी ही पुस्तकें हैं। अब तक हिन्दी में जितनी भी पुस्तकें भाषा-विज्ञान संबंधी प्रकाशित हुई हैं, वह प्रायः अंग्रेज़ी तथा अन्य विदेशी भाषाओं के आधार पर लिखी गई हैं किंतु प्राचीन भारतीय परंपरा के अनुकल पुस्तकों की संख्या नगण्य है। इस दृष्टि से श्री वाजपेयी जी की यह पुस्तक सर्वथा मौलिक और अध्ययनपूर्ण कृति है। पाणिनि तथा यास्क आदि प्राचीन भाषाविदों के सिद्धांतों की रक्षा करते हुए श्री वाजपेयी जी ने अपनी सुन्दर सूझ-बूझ का इस ग्रंथ में विवेकपूर्ण परिचय दिया है। पुस्तक में आठ अध्याय हैं। प्रथम, द्वितीय तथा अंतिम अध्याय में भाषा विज्ञान के सामान्य तत्वों का सुंदर विवेचन हुआ है। तृतीय अध्याय में प्राचीन आर्य भाषा तथा उसका विकास, चतुर्थ में मध्यकालीन प्राकृत भाषाओं की मौलिकता, पंचम और षष्ठ में आर्य भाषाओं का इतिहास और विवेचन तथा सप्तम में दक्षिणी भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्याय में प्राकृत भाषाओं के संबंध में जो विवेचन प्रस्तुत किया गया है, वह सर्वथा मौलिक है। भिन्न-भिन्न बोलियों के शब्दों का चुनाव भी मौलिक दृष्टि से किया गया है। हिन्दी साहित्य में भाषा-विज्ञान संबंधी साहित्य को प्रस्तुत करने में यह ग्रंथ अपनी विशेषता रखता है। पुस्तक को पढ़ कर आज कल के भाषा-विज्ञान के विद्वान और पंडित संभव है इस ग्रंथ को भाषाविज्ञान का एक अवैज्ञानिक विवेचन समझें, किन्तु वाजपेयी जी का मत और विवेचन एकदम मौलिक, विशुद्ध और भारतीय भाषाविज्ञान की परंपरा के अनुकूल ही है। पुस्तक अत्यन्त सारगर्भित और पठनीय है साथ ही विद्वानों के लिए आदरणीय है।

अरबों के देश में : लेखक--श्री गोपाल प्रसाद व्यास; प्रकाशक--आत्माराम एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली; मूल्य, तीन रुपया पचास न० पै०।

लेखक ने सन् १९५८ ई० में अरब गणराज्य के निमंत्रण पर मिस्र, सीरिया और कुएत की यात्रा की थी। इस पुस्तक में उसी यात्रा का मनोरंजक, साहित्यिक और सुंदर वर्णन किया गया है। इसमें इस यात्रा के संबंध में १५ छोटे-छोटे विवरण प्रस्तुत किये गये। पुस्तक का महत्व भौगोलिक तथा एतिहासिक दृष्टि से नहीं वरन् आपबीती और प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर महत्वपूर्ण है। लिखने की शैली बड़ी आकर्षक हृदयग्राही और मनोरंजक है। अरब देशों के

विशेष विवरणों के साथ लेखक के व्यक्तित्व की झलक भी पुस्तक में स्थान-स्थान पर उभर आई है। अच्छा से अच्छा और साधारण से साधारण पाठक भी पुस्तक पढ़ने में अभिरुचि लेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं। अरब गणराज्य संबंधी चित्रों से पुस्तक का महत्व बढ़ गया है।

श्रेष्ठ हिन्दी कहानियाँ : संपादक––श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार; प्रकाशक––प्रकाशन विभाग, सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, दिल्ली; मूल्य, ३, रुपया।

इस पुस्तक में सूचना तथा प्रसारण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित, आजकल' में प्रकाशित होने वाली कहानियों का संग्रह किया गया है। श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार हिन्दी के प्रसिद्ध कलाकार तथा कथाकार हैं, इसलिए उनके द्वारा चुनी हुई कहानियों की श्रेष्ठता में कोई विवाद नहीं है। सर्वश्री बेढ़ब बनारसी, राहुल सांकृत्यायन, शांतिप्रिय द्विवेदी, वृन्दावन लाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, इलाचंद्र जोशी, अमृतराय, उषा देवी मित्रा आदि की कहानियां सुंदर और सुपाठ्य हैं। कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन के चरित्र-चित्रण की अधिकता है, जिसका प्रभाव साधारण पाठक पर भी पड़ना अनिवार्य है। सूचना मंत्रालय की 'आजकल' में प्रकाशित कहानियों को पुरस्कृत कर के उन्हें पुनः एक संग्रह में प्रकाशित करने की सूझ सराहनीय है। इससे सरकार को आर्थिक लाभ होता रहेगा और लेखकों का परिचय भी पाठकों तक पहुंचता रहेगा। संग्रह उपयोगी और पठनीय है।

कारे मेघा पानी दे : लेखिका––श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया एम० ए०, प्रकाशक––न्यू लिटरेचर, जीरो रोड, प्रयाग; मूल्य, एक रुपया।

आज कल हिन्दी में बालकों के लिए विविध विषयों से सम्पन्न साहित्य का सृजन अवाध गति से हो रहा है। बच्चों की शिक्षा के विकास में उनकी रुचि के अनुकूल चित्रों द्वारा, पिछले दो-एक वर्षों में, आकर्षक और मनोरंजक साहित्य का सृजन हुआ है। श्रीमती शकुन्तला सिरोठिया हिन्दी की सुप्रसिद्ध कवयित्री हैं, साथ ही उन्हें बच्चों के लिए मनोवैज्ञानिक शिक्षण का भी विशेष अनुभव है। इस पुस्तक में श्री सिरोठिया जी ने चित्रों के माध्यम से कुछ ऐसी रचनायें प्रस्तुत की हैं, जिनसे बच्चों को ज्ञानवर्द्धन के साथ साथ उनका मनोरंजन भी होता है। इस प्रकार का साहित्य विदेशों में अधिक है, किंतु व्ययसाध्य होने के कारण भारत में अल्प। पुस्तक में १६ तिरंगे चित्र हैं, और सभी चित्र वर्षा संबंधी हैं। चित्रों के संबंध में परिचयात्मक ढंग से कविता की चार पांच पंक्तियां भी हैं। यह भी वर्षा से संबंधित हैं। पुस्तक बड़ी सुरुचिपूर्ण, आकर्षक और बच्चों के लिए ज्ञानवर्धन के साथ ही मनोरंजक और आकर्षक है। बाल साहित्य प्रेमियों को इससे अवश्य लाभ उठाना चाहिए।

रंग बिरंगे फूल : लेखक––श्री रमाशंकर 'चंचल'; प्रकाशक––चंचल मनोरंजन क्लब, प्रयाग २।

श्री रमाशंकर 'चंचल' एक युवक और कर्मठ साहित्यिक हैं। इस पुस्तक में लेखक की कुछ कवितायें, कहानियां तथा गद्य-गीत संग्रहीत हैं। रचनायें सभी सुरुचि पूर्ण और सुंदर हैं। यह पुस्तक स्वर्गीय श्री फिरोज़ गांधी की स्मृति में प्रकाशित और पंडित जवाहर लाल नेहरू को समर्पित की गई है।

आकाशवाणी विविधा (१९६०) : प्रकाशक--प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय पुराना सचिवालय, दिल्ली--८; मूल्य, तीन रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में आकाशवाणी (आल इंडिया रेडियो) के विभिन्न केन्द्रों से प्रसारित अनेकानेक सामाग्रियों का सुंदर संकलन किया गया है। इसी प्रकार का संकलन गत वर्ष सन् १९५९ ई० में भी प्रकाशित किया गया था। इस संकलन में ७६ रचनायें संग्रहीत हैं जिनमें कविताओं की संख्या भी काफ़ी है। अधिकांश रचनायें कहानियां हैं, साथ ही कुछ जीवनियां, कुछ वैज्ञानिक, यात्रा संबंधी तथा एतिहासिक और राजनैतिक वार्तायें हैं। एकांकी नाटक केवल एक ही है। एकाध को छोड़ कर सभी कवितायें 'नई कविता' के तर्ज़ पर हैं। संग्रह को रुचिकर, पठनीय तथा लोकप्रिय बनाने की पूरी चेष्टा की गई है। हिन्दी साहित्य संबंधी केवल तीन वार्तायें हैं, जिसमें श्री सुमित्रानन्दन पंत की 'मेरी दृष्टि में नई कविता' वार्ता स्पष्ट भाषा में, बड़ी संतुलित और नई कविता के प्रेमियों के लिए पठनीय, विचारणीय तथा अनुकरणीय है। श्री मैथिलीशरण गुप्त की 'कुछ साहित्यिक संस्मरण' वार्ता जबरदस्ती लिखाई गई जान पड़ती है, क्योंकि उसमें जीवन नहीं है। श्री यशपाल की 'कथा में शिल्प' वार्ता में ठोस और गम्भीर सामग्री प्रस्तुत की गई है।

फिर भी यह प्रश्न होता है कि किस ध्येय और उद्देश्य से यह संग्रह प्रकाशित किया जाता है। यदि यह कहा जाये कि सन् १९६० ई० में आकाशवाणी में जितनी वार्तायें प्रसारित हुईं उनमें से चुनी हुई वार्ताओं का यह संग्रह है, तो ठीक न होगा, यदि यह कहा जाये कि सभी तरह की वार्ताओं में से विषय की दृष्टि से केवल प्रतिनिधि वार्ताओं का इसमें संग्रह किया गया है, तो भी ठीक नहीं होगा। कहानियों की अधिकता की दृष्टि से यह अवश्य कहा जा सकता है कि संग्रह का प्रकाशन प्रायः लोकप्रियता तथा मनोरंजन की दृष्टि से ही किया गया है। हम जानते हैं कि रेडियों से सन् ६० में सैकड़ों वार्तायें विभिन्न विषयों की प्रसारित हुई हैं, और एक से एक अच्छी और श्रेष्ठ किंतु उन्हें इस संग्रह में स्थान नहीं दिया गया है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार के संग्रहों का कोई उद्देश्य अवश्य होना चाहिए, विशेषकर वार्ताओं की विभिन्नता की दृष्टि से, जिससे पाठकों को यह जानने का अवसर मिल सके कि कितनी प्रकार की वार्तायें हुईं, और उनमें प्रतिनिधि वार्तायें कौन-कौन सी हैं। इससे साहित्य और साहित्यकारों को विशेष लाभ होने की संभावना रहती है। इसमें ऐसे लेखकों की वार्तायें अधिक संग्रहीत हैं, जो या तो आकाशवाणी में कार्य करते है या जो येन केन प्रकारेण उससे किसी प्रकार संबंधित हैं। हमें आशा है कि भविष्य में सभी दृष्णिकोणों से विचार विनिमय करके इस प्रकार के संग्रह प्रकाश में आने चाहिए जिनमें केवल लेखकों का ही प्रतिनिधित्व न हो वरन् विभिन्न विषयों की वार्ताओं का भी प्रतिनिधित्व हो। यदि एक एक विषय की प्रतिनिधि वार्ताओं का अलग-अलग संग्रह प्रकाशित किया जा सके तो और भी उत्तम है। इससे साहित्य के विभिन्न अंगों की समृद्धि में साथ ही पाठकों को भी अपनी ज्ञान-वृद्धि में सहायता प्राप्त होगी। 'आकाशवाणी विविधा' पढ़ने योग्य संग्रह है। हिन्दी प्रेमियों को इसे अपना कर लाभ उठाना चाहिए।

--ब्रह्मदेव राय, एम० ए०

अध्यात्म रोगों की चिकित्सा : लेखक—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति; प्रकाशक—धर्मपाल विद्यालंकार, सहायक मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी; मूल्य, दो रुपया पचास नया पैसे।

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी प्रति वर्ष श्रद्धानन्द स्मारक निधि की ओर से एक ग्रन्थ स्वाध्याय मंजरी ग्रन्थमाला के लिए प्रकाशित करता है, यह ग्रन्थ इसके सभासदों को भेंट के रूप में दिया जाता है, जिससे कि उनका स्वाध्याय क्रम चलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ इस माला का २८वां पुष्प है। जिस प्रकार से शरीर को आहार की आवश्यकता है, उसी प्रकार से मन और आत्मा को भी आहार की आवश्यकता है। इसीलिए मन और आत्मा के लिये 'स्वाध्याय' रूप आध्यात्मिक आहार ऋषियों ने बताया है। शरीर, इन्द्रिय, मन और आत्मा इन चार के संयोग का नाम आयु है, आयु की स्थिरता के लिए आहार आवश्यक है। प्रस्तुत पुस्तक के स्वाध्याय से मन और आत्मा को आहार पर्याप्त रूप में मिलता है; आहार भी सुपच, पचने में सुगम (बुद्धि में आने वाला) है। लेखक ने इसके लिए भूमिका में स्पष्ट ही लिखा है—"**यदि किसी वाक्य को श्रोता न समझ सकें तो उसके लिए वक्ता को दोषी मानना चाहिए।**"

इसीसे लेखक ने जन-सामान्य की भाषा में, गीता के सुन्दर वचनों को दूसरी सूक्तियों के साथ गूँथकर सुन्दर माला बनाई है। इसमें आत्मा, श्रद्धा, कर्त्ता, भोक्ता, दुःख के कारण, स्वाध्याय, ईश्वर विश्वास आदि शीर्षक पाठक के लिए आकर्षक हैं।

स्वाध्याय के लिए ऐसी पुस्तक प्रस्तुत करने के लिए रचनाकार धन्यवाद के पात्र हैं। आत्मा और मन के लिए इतनी सरल भाषा में इतना उपयोगी विषय, इस प्रकार सरलता से प्रस्तुत करना अध्ययनशील लेखक का ही काम है।

—अत्रिदेव विद्यालंकार

गांधी : लेखक—विल्फ्रेड वेलाक; प्रकाशक—अखिल भारत सर्वसेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, काशी; मूल्य, ६ आना।

प्रस्तुत पुस्तिका विल्फ्रेड वेलाक की अंग्रेज़ी पुस्तिका 'गांधी ऐज़ ए सोशल रेवोल्यूशनरी' का हिन्दी अनुवाद है। श्रीमती चन्द्रकला मित्तल ने गांधी विचारधारा को भलीभांति हृदयंगम कर के अनुवाद किया है। अतः पुस्तक की मौलिकता कहीं खंडित नहीं हुई है। पुस्तक में गांधी जी को एक महान सामाजिक क्रांतिकारी के रूप में स्वीकार किया गया है और उनके महान अहिंसक क्रांतिकारी दृष्टिकोण को बड़ी योग्यता और स्पष्टता से संसार, विशेषकर पश्चिमी जगत के सामने रखा गया है। 'पश्चिमी यदार्थवाद का संकट' शीर्षक में पश्चिम के वस्तुवादी जीवन की असफलताओं को वहीं के एक लेखक ने अत्यन्त स्पष्टता से प्रकट किया है। सर्वोदय-क्रांति के प्रत्येक प्रेमी के लिए पुस्तक पठनीय है। बुनियादी तालीम और रचनात्मक कार्यक्रम के द्वारा गांधी जी दुनिया में जिस नवीन अहिंसक समाज की रचना करना चाहते थे उसकी बहुत ही साफ़ झाँकी इस पुस्तिका में दी गई है।

सहकारी खेती : लेखक—गांधी जी, प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद; मूल्य, २० नए पैसे।

प्रस्तुत पुस्तिका गांधी जी के सहकारी खेती से संबंधित विचारों का संकलन है। श्री मन्ननारायण जी ने अत्यन्त परिश्रम से महात्मा गांधी के सहकारी खेती संबंधी बिखरे हुए विचारों को एक स्थान पर संकलित किया है। इस समय जब सहकारी खेती संबंधी प्रश्न एक राष्ट्रव्यापी विवादास्पद प्रश्न बन गया है, इस छोटी पुस्तिका से राष्ट्र का अच्छा पथ प्रदर्शन हो सकता है। गांधी जी की ग्राम स्वराज्य की कल्पना में से ही सहकारी खेती का महत्वपूर्ण विषय निकला है। इस पर राष्ट्रपिता का एक मौलिक दृष्टिकोण है। सरकारी और गैर सरकारी दोनों प्रकार के लोगों के लिए उसका समझना अत्यन्त आवश्यक है। आदर्श गांव, जमीन का स्वामित्व, सहकारी प्रयत्न, वैयक्तिक या सामुदायिक प्रभृति शीर्षकों में गांधी जी का दृष्टिकोण भली-भांति स्पष्ट है। इस विषय से संबंधित लोगों को यह पुस्तिका अवश्य पढ़ लेनी चाहिए।

जीवन ज्योति : लेखक——प्रो० निर्मलचन्द्र; प्रकाशक——नेशनल पब्लिशिंग हाउस, ९६ दरियागंज, दिल्ली; मूल्य, २ रुपया ५० नये पैसे।

प्रो० निर्मलचन्द्र पुरानी शराब को नई बोतल में रखने वाले एक कुशल लेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक में उन्होंने प्राचीन भारतीय विचारधारा को एक नए आकर्षक रूप में प्रकट किया है। छोटे-छोटे शीर्षकों में जीवन के महत्वपूर्ण प्रश्नों को सजीव करके रखने की उनकी एक कला है। पुस्तक का आकर्षण कहीं शिथिल नहीं है। पढ़ने में सब जगह आनन्द आता है। मन में चिंतन मनन की प्रेरणा जागृत होती है। व्यक्ति की गंभीरता में उसकी समष्टि के तत्व अंतर्हित रहते हैं। 'एकोऽहं बहुस्याम:' की यही अन्तरानुभूति है। पुस्तक में इस मौलिक तत्व की रक्षा सर्वत्र की गई है। हमारा जीवन गड्ढे का पानी नहीं, एक अनवरत प्रवाह है। वह निरंतर आगे बढ़ता जा रहा है। अन्तर-बाहर से उसे पकड़ कर चलने में ही जीवन की सफलता और सार्थकता है। पूर्ण से पूर्ण की ओर, अपना स्वरूप, विश्वजगत, अपना ही चमत्कार, रूप प्रकाश आतमा का धर्म, ऐसे शीर्षक हैं जो पाठक को गंभीर और चिंतनशील बनाते हैं।

साहस के धनी : लेखक——सिनेटर जान एफ० केनेडी; प्रकाशक——वोरा ऐंड कम्पनी, राउण्ड बिल्डिंग, कालबा देवी रोड, बम्बई——२; मूल्य २ रुपया, ५० नये पैसे।

अमेरिकन लेखक जान एफ० केनेडी की प्रसिद्ध पुस्तक 'प्रोफाइल्स इन करेज' का हिन्दी अनुवाद है। अमेरिका में इस पुस्तक को काफी सम्मान प्राप्त हुआ है। इसे सन् १९५७ का पुलिट्ज़र पारितोषिक प्रदान किया गया है। लेखक का दावा है कि इसके सभी दृष्टान्त सच्चे और रचनात्मक हैं। इस युग में जब हमारे जीवन का एक नया निर्माण हो रहा है नवयुवकों के लिए ऐसी पुस्तकों का एक खास महत्व है। पुस्तक की पृष्ठभूमि अमेरिकन है, किन्तु इसकी सजीवता और सामाजिकता सर्वव्यापी है। बुद्धिमान दूरदर्शी व्यक्ति अपने मनोबल और साहस से देश की नौका को विपरीत हवा में भी किस प्रकार अपने लक्ष्य की ओर खेते जाते हैं, नैतिक साहस के कुछ थोड़े से आदमी विपरीत परिस्थितियों में राष्ट्र के जीवन का कैसे निर्माण कर लेते हैं, जिनमें चरित्र नहीं कभी-कभी वह भले ही कुछ साहस दिखा कर सफलता प्राप्त कर लें किन्तु अन्ततोगत्वा स्थायी रूप से विजय चरित्रवानों की ही होती है। किन्तु चरित्रवानों के साहस को

सही रचनात्मक आधार प्राप्त होना चाहिए। इन सब विषयों को राष्ट्रीय रूप में अत्यन्त रोचक उदाहरणों से सजा कर रखा गया है। पुस्तक में कहानी का मज़ा और विचारों का उद्बोधन दोनों साथ साथ उपलब्ध हैं। उसे पढ़ कर मन में सोच समझ कर कुछ करने का उत्साह पैदा होता है। मनुष्य जीवन की सफलता उसकी रचनात्मक क्रियाशीलता में है जो विचार और साहस का विषय है। इस विषय की पुस्तक में एक गंभीर प्रेरणा है।

हमीर राव: लेखक––श्री सभामोहन अवधिया; प्रकाशक––किताब महल, इलाहाबाद; मूल्य, १ रुपया ५० नया पैसा।

प्रस्तुत खंड काव्य हमारे चिर प्रेरक लोकनायक हमीर की वीरता का एक सरल-सजीव वर्णन है। काव्य कला की अपेक्षा इसमें भाषा और भाव की सरलता प्रधान है। यह है एक वीर पुरुष की वीरता का सरल तुकान्त वर्णन। कहीं कहीं भावोद्बोधकता के अच्छे चित्र हैं। पुस्तक छात्रों तथा सर्वसाधारण के पढ़ने योग्य है। हमीर की विजय और पराजय दोनों का चमत्कारिक वर्णन है। अन्त में अपनी ही तलवार से अपना गला काट कर उन्होंने अपनी अद्भुत देशभक्ति का परिचय दिया है।

मोहब्बत का पैग़ाम (दो भाग) : लेखक––विनोबा जी; प्रकाशक––अखिल भारत सर्व-सेवा संघ, राजघाट, काशी; मूल्य क्रमशः दो रुपया और ढ़ाई रुपया।

पुस्तक के दोनों भागों में संत विनोबा के कश्मीर में दिए गए प्रवचन संग्रहीत हैं। दोनों पुस्तकें दो भाग नहीं दो संस्करण हैं। दूसरे संस्करण में प्रथम संस्करण के लगभग दुगुने प्रवचन हैं, किन्तु मूल्य ढ़ाई रुपया ही रखा गया है। कश्मीर में विनोबा जी ने चार मास पदयात्रा की और स्थान-स्थान पर भाव विभोर होकर प्रवचन किए। यों भी कश्मीर धरती का एक अनुपम प्राकृतिक भूखंड है और इस समय एक विशेष आकर्षण-केन्द्र भी बन गया है। ऐसे क्षेत्र में विनोबा जी की पैदल यात्रा का एक विशेष महत्व है। इस यात्रा में विनोबा प्रायः भावमय होकर मिल जुल कर रहने की मानव की एक बड़ी समस्या का ठीक समाधान खोजते हुए दिखते हैं। मनुष्य किसी धर्म या किसी जाति का हो मनुष्य है। प्रकृति और विवेकशील जीवन की जो न्यामत उसे प्राप्त हैं उसको उसका सदुपयोग कर फूलना फलना आगे बढ़ना है। उसके धर्म, उसकी जातीयता की इसी में सार्थकता है। यह तभी संभव है जब मनुष्य मिल जुल कर रहना और बाँट कर खाना सीखे। विनोबा निष्पक्ष भाव से यह भावना जनता के हृदय में जगाना चाहते हैं। उनके जैसे संत के लिए भारत और पाकिस्तान की जनता में कोई भेद नहीं है। वह दोनों की समान रूप से खुशहाली चाहते हैं। मुहब्बत उन्हें हिन्दू मुसलमान दोनों के साथ एक जैसी है। इसीलिए उनको कहीं रुकावट नहीं होती है। 'धर्म परिवर्तन व्यर्थ की चीज़', 'रसूलों में फ़र्क नहीं', 'खुद और खुदा', 'ख़ूबसूरत कुदरत बदसूरत इंसान', 'मज़हब के पांच आकाल', 'अध्यात्म दर्शन' इस प्रकार के शीर्षकों में विनोबा जी के अनुपम प्रवचन संग्रहीत हैं। प्रवचनों में किसी समस्या का बौद्धिक समाधान मात्र नहीं है। उनमें हार्दिक रसमग्नता है। पढ़ने वाले को जगह-जगह सूझबूझ, अध्ययन और साहित्य के मोती मिलते हैं, चित्त प्रसन्न हो जाता है।

बाबा विनोबा : (६ भाग में) लेखक––श्री कृष्णदत्त भट्ट; प्रकाशक––अखिल भारत सर्वसेवा संघ, राजघाट, काशी; मूल्य प्रत्येक का तीस नए पैसे।

जब छोटे थे, जब आश्रम में थे, जब घूमने लगे, करते क्या हैं, कहते क्या हैं, चाहते क्या हैं––इस प्रकार के खंडों में लेखक ने अत्यंत सरल और सुबोध ढंग से बाबा विनोबा की पूरी जीवनी लिख दी है जिसे बच्चे, बूढ़े, प्रौढ़, अप्रौढ़ सभी पढ़ कर आनंद ले सकते हैं। पाठक पर पुस्तक का कोई बोझ नहीं पड़ता। इस छोटी सस्ती पुस्तक के घर में एक बार आ जाने पर इससे लड़के, लड़कियों, मातायें, बहिनें, बड़े, बूढ़े सब समान रूप से लाभान्वित हो सकते हैं। संत के जीवन का रस कहीं कम नहीं है। बच्चों के लिए भी आनन्दप्रद है और बूढ़ों के लिए भी। पैंदल चलने से आदमी की उम्र बढ़ती है, उसमें फुर्ती आती है, पद-यात्रा में कौड़ी का खर्च नहीं, जगह जगह के लोगों से परिचय होता है। सच पूछो तो यात्रा का, सैर का सच्चा आनंद पैंदल चलने में ही है। इस प्रकार के बालबोध वाक्यों के साथ ही ऐसे कथन भी हैं––'साहित्यिक तो ईश्वर से भी ऊँचा है, ब्राह्मण में जो है सो तो साहित्यिकों की बाणी में आता ही है जो नहीं है वह भी साहित्यिकों की वाणी में आता है।.... विनोबा कहते हैं कि साहित्यिक में सब से अधिक खूबी होनी चाहिए सचाई की.... कबीर बुनकर न होता तो कबीर न बनता... फकीर भी साहित्यिक हो सकता है जो जनता के भरोसे पर रहे। ऐसे फकीरों को खाना मिले तो भी उनका जी उछलता है नहीं मिलता तो भी।... इसलिए साहित्यिक या तो सच्चा फकीर होगा या ईश्वर की सृष्टि की पूजा करने वाला भक्त। थोड़े में सरल और सरस ढंग से सब कुछ दे देने का यह एक प्रशंसनीय प्रयोग है। पुस्तक प्रत्येक घर में रखनी चाहिए। पौने दो रुपये में ही ६ भागों की पूरी किताब मिल जाती है।

राष्ट्रपति शतकम् : लेखक––पं० कर्णवीर नागेश्वर कवि; प्रकाशक––आन्ध्र भारती प्रकाशन मंदिर, वेटपालेन् (गुण्टूर) आन्ध्र प्रदेश; मूल्य, ७५ न० पै०।

तेलगू के प्रसिद्ध कवि साहित्य चक्रवर्ती पं० कर्णवीर नागेश्वर रचित राष्ट्रपति शतकम् तेलगु और उसके संस्कृत श्लोकानुवाद सहित एक मधुर कवि-कृति है। समुज्वल राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत पाठकों के मानस पटल पर भारत के राष्ट्रपति का एक भव्य चित्र अंकित करती है। अपने ढंग का एक नूतन प्रयत्न है।

आहार और पोषण : लेखक––झबेर भाई पटेल, प्रकाशक––अखिल भारत सर्व सेवा संघ काशी; मूल्य, ५० न० पै०।

आहार-विज्ञान पर सरल और सुबोध ढंग से कथोपकथन में लिखी गई यह पुस्तक प्रत्येक व्यक्ति के पढ़ने लायक है। इससे थोड़े में आहार संबंधी अच्छा ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पुस्तक में एक प्रकार की साहित्यिक रोचकता, सर्वव्यापी सरलता और वैज्ञानिक विचारणा है। खान-पान संबंधी सर्वोदय का दृष्टिकोण इसमें बहुत अच्छे ढंग से समझा दिया गया है। नीचे स्वाध्याय संबंधी प्रश्नों के दे देने से पुस्तक की उपयोगिता और बढ़ गई है। पढ़ो और विचार कर धारण करो का यह एक सरस सूत्र है। संग्रहीत उपयोगी पुस्तकों में इसका होना आवश्यक है।

बापू-बापा और सरदार : लेखक––वियोगी हरि; प्रकाशक––कुटीर-प्रकाशन मण्डल, दिल्ली; मूल्य, एक रुपया।

हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक वियोगी हरि द्वारा बालोपयोगी सरल और सरस ढंग से लिखी गई बापू, ठक्कर बापा और सरदार पटेल की यह झांकी अपने ढंग की अनूठी है। इसमें काव्य का रस, चिंतन की गहराई और जीवन की स्फुरण की एक साथ उपलब्धि होती है। पुस्तक का मूल्य कुछ अधिक प्रतीत होता है। ऐसी पुस्तकों को सर्व सुलभ बनाने के लिए सर्व सेवासंघ प्रकाशन का अनुसरण किया जाय तो अच्छा है।

तांत का बनाना : लेखक––श्री सत्यन; प्रकाशक––अ० भा० सर्व सेवासंघ-प्रकाशन, राजघाट, काशी; मूल्य, साठ नए पैसे।

श्री सत्यन जी कताई शास्त्र के मर्मज्ञ कार्यकर्ता हैं। ताँत निर्माण जैसे उपयोगी विषय को उन्होंनें बहुत ही सरल और वैज्ञानिक ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है। हिन्दी में ऐसी पुस्तकों का अभाव है। विषय से दिलचस्पी रखने वालों के लिए पुस्तक उपयोगी और पठनीय है।

राम नाम एक चिंतन : लेखक—विनोबा; प्रकाशक––अ० भा० सर्वसेवा संघ, प्रकाशन, राजघाट, काशी; मूल्य, सैंतीस नये पैसे।

संत विनोबा द्वारा रचित यह पुस्तक गीता और रामायण की भाँति भक्त-साधकों का कंठहार बनने योग्य है। भक्त ने गहरी डुबकी लगा कर भक्ति का जो मक्खन पाया है वही इस पुस्तक में सर्वसुलभ कर दिया गया है। राम नाम संबंधी बापू की आस्था का रहस्य विनोबा की इस पुस्तक से खुल जाता है। इससे राम नाम संबंधी अनेक शंकाओं की निवृत्ति हो कर हृदय को शान्ति प्राप्त होती है। प्रत्येक आस्तिक भक्त को परम भक्त विनोबा की यह छोटी पुस्तक पढ़नी ही चाहिए। इसमें गागर के भीतर अमृत का सागर भरा है। इसमें केवल भक्ति और मुक्ति का ही दिग्दर्शन नहीं है 'राम नाम का उपचार' शीर्षक में कुदरती इलाज के साथ राम नाम रूपी संजीवनी का मिश्रण कर आरोग्य के सफल सूत्र भी दिये गये हैं। (अ) हमेशा शुद्ध, स्वच्छ, युक्त और मित आहार और विशेष प्रसंगों में अल्प आहार और निराहार। (आ) देह, वाणी, मन की शुद्धि और आसपास के सब वातावरण की स्वच्छता। (इ) कुदरत पर प्यार और उसका उन्मुक्त सेवन। (ई) योग्य परिश्रम और विश्राम की व्यवस्था। (उ) अपने को देह से भिन्न जानना, प्राणिमात्र की सेवा में लग जाना और विशुद्ध चित्त से परमेश्वर का निरंतर स्मरण करना, यह है जीवनचर्या, इसी को ब्रह्मचर्य कहते हैं। यही राम नाम का उपचार है। सन्त का यह नुसखा कितना उपयोगी है। इसमें शरीर और मन का सम्पूर्ण प्रमाद दूर करने की शक्ति है।

सहकारी खेती : लेखक—श्री सन्तराम वत्स्य; प्रकाशक––नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; मूल्य, पचहत्तर नये पैसे।

सहकारी खेती जैसे युगोपयोगी विषय को इस पुस्तक में अत्यंत सरल और सुबोध ढंग से समझाया गया है। ग्रामसेवक के साथ ग्रामीणों के संवाद के रूप में लेखक ने साहित्यिक कौशल

से विषय को समझाने का सफल प्रयत्न किया है। इसमें सहकारी खेती संबंधी अधिकांश भ्रमों का संक्षेप में समाधान कर दिया गया है।

ब्रज-माधुरी निकुंज : लेखक--श्री द्वारकेश लाल जी महाराज; प्रकाशक--अग्निकुमार कार्यालय, माधव भवन, पोरबन्दर; मूल्य, २५ नये पैसे।

ब्रजभाषा-काव्य अपनी संगीत-माधुरी और भाव-सुधा के लिए प्रसिद्ध है। कवि ने अपनी इस छोटी सी पुस्तिका में उसी माधुरी और सुधा को सजीव किया है। भाव-भाषा दोनों दृष्टियों से रचनायें सरस औप मधुर हैं। इसके पदों में ब्रजभाषा की प्राचीन कविता की माधुरी का रस मिलता है।

--गुरुनारायण पांडेय

संवाद सप्तक : लेखक--सेठ गोविन्ददास; प्रकाशक--भारतीय विश्व प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली; मूल्य, १ रुपया २५ न० पै०।

इस पुस्तक में जीव और देह, नारी और नर, धर्म और विज्ञान, न्याय और प्रेम, शान्ति और समर, पिता और पुत्र, सूर्य और चन्द्र--ये सात संवाद अमिताक्षर छन्दों में लिखे गये हैं। इन संवादों के माध्यम से आज की नव जागृति, सामाजिक क्रान्ति, राष्ट्रीय उत्थान जैसी अनेक भावनाओं की प्रभावकारी चर्चा और अभिव्यक्ति हुई है। संवादों के लेखक हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार और राष्ट्रसेवक सेठ गोविन्ददास जी हैं, अतः इनकी विशिष्टता में किसी प्रकार का संदेह नहीं हैं।

स्नेह या स्वर्ग (काव्य रूपक) : लेखक--सेठ गोविन्ददास; प्रकाशक--भारतीय विश्व प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली; मूल्य, १ रुपया ७५ न० पै०।

इस काव्यरूपक में यूनान के महाकवि होमर के 'इलियड' महाकाव्य की एक कथा को भारतीय रूप दिया गया है। आदि से अन्त तक अमिताक्षर छन्द का प्रयोग है। सेठ जी अपनी कृतियों में विशेषतः नाटकों में भारतीयता का साधारणीकरण करने में सिद्धहस्त हैं। उन्होंने इस नाटक में यूनानी नामों को भी भारतीय संज्ञा दे दी है। सेठ जी नाटक के माध्यम से अपनी भारतीयता को लोक के सामने सर्वाधिक मुखर करने वाले नाटककार हैं, उनकी रचनाएँ युग की महिमा और स्थान की महत्ता के बीच संगम करती है। प्रस्तुत कृति में एक विदेशी कथा को लेकर भारतीयता का प्रश्न मुखर करने में सेठ जी ने अद्भुत नाट्यशिल्प दिखाया है। भाव, विचार, अभिव्यंजनों एवं कौतुक से ओत-प्रोत यह कृति साहित्य मर्मज्ञों के लिए अच्छी भेंट है।

शवरी : लेखक--सेठ गोविन्ददास; प्रकाशक--भारतीय विश्व प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली; मूल्य, १ रुपया ५० न० पै०।

रामायण की प्रसिद्ध पात्र शवरी की कथा को लेकर प्रस्तुत कृति में सेठ जी की तीन रचनायें संगृहीत हैं--एकांकी नाटक, एक पात्री नाटक और निबन्ध काव्य। तीनों रचनाओं में रचनाशिल्प अभिनन्दनीय हैं किन्तु भावशिल्प विचारों के बोझ और आधुनिकता के ओज से कुछ शिथिल हो गया है।

पत्रपुष्प (स्फुट कविताएं) : लेखक——सेठ गोविन्ददास; प्रकाशक——भारतीय विश्व प्रकाशन फव्वारा, दिल्ली; मूल्य, १ रुपया ७५ न० पै०।

'पत्रपुष्प' में सेठ जी की छोटी-बड़ी ६३ कविताएँ संगृहीत हैं जो समय-समय पर लिखी गयी हैं, कविताओं की विशेषता उनका प्रसाद गुण है। ये मात्रिक, वर्णवृत्त, मुक्त और पद छन्दों में रचित हैं। साहित्यिक सौष्ठव की सुंदरता इन कविताओं की विशेषता है। इनमें सेठ जी के विशाल साहित्य के मूलस्रोत निहित हैं। सेठ जी के साहित्य की मूल प्रेरणाएँ क्या हैं 'पत्रपुष्प' में इसकी खोज की जा सकती है।

प्रेमविजय (काव्य) : लेखक——सेठ गोविन्ददास; प्रकाशक——भारतीय विश्व प्रकाशन, फव्वारा, दिल्ली; मूल्य, २ रुपया ५० न० पै०।

महाकाव्य की रूपरेखा में तेरह सर्गों का यह काव्य सेठ जी ने लिखा है। वाणासुर की राजकुमारी उषा और कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के प्रेम का प्रसिद्ध पौराणिक आख्यान इसकी कथा है। यह आख्यान इतना रोचक और जनप्रिय है कि इसके पूर्व भी कई कथावाचकों ने बाजारू काव्य शैली में इसे निबद्ध किया है, दुःख है हिन्दी के किसी कृती कवि ने इस पर लेखनी नहीं चलाई, सेठ जी ने उस अभाव को पूरा किया। सम्पूर्ण काव्य हरिऔध जी के महाकाव्य 'प्रिय-प्रवास' की शैली में संस्कृत वर्णवृत्तों में लिखा गया है, कहीं कहीं हरिगीतिका छन्द का भी प्रयोग है। भाषा का प्रवाह छन्दों में अच्छा है, काव्य के प्रसाद गुण की प्रशंसा अवश्य की जायगी। कम पढ़े लिखे लोग भी इससे आनन्द उठा सकते हैं। ऐसे काव्यों की सफलता दो बातों पर निर्भर होती है——कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान और भावों की मूर्तयोजना। पुराण की कथा को ज्यों का त्यों निबद्ध कर देने से अथवा जन्म से मरण तक की जीवनलीला को गा देने से किसी कृति को काव्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती। पद्यात्मक कथा वह भले हो। कथा के मार्मिक स्थलों के चुनाव में नाटककार बहुत कुशल होते हैं, साथ ही भावों की मूर्तयोजना में भी। और यह कहना अयुक्ति नहीं है कि सफल नाटककार ही सफल महाकाव्य लिख सकता है। नाटककार सेठ गोविन्ददास और उनके काव्य 'प्रेम विजय' के सम्बन्ध में बात कुछ ऐसी ही है।

गांधी-साहित्य की नौ पुस्तकें : प्रकाशक——नव जीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद—१४।

१. गांवों की मदद में २. भारत की खुराक की समस्या ३. शरीर-श्रम ४. ग्रामोद्योग ५. मेरा समाजवाद ६. शराब बन्दी होनी चाहिए ७. गीता बोध ८. ईसा मेरी नजर में ९. सर्वोदय इन सभी पुस्तकों में विषय के अनुसार गांधी जी के समय समय पर दिये गये व्याख्यानों, लिखे गये लेखों, ग्रामसेवकों के प्रश्नों के दिये गये उत्तरों एवं दूसरे माध्यम से प्रकट हुए विचारों का संकलन किया गया है। लेख प्रायः 'हरिजन सेवक' के हैं। इन पुस्तकों में भारतीय समाज के मस्तिष्क और हृदय को प्रबल बनाने वाली विचार शक्ति निहित है। पहले की चार पुस्तकों में ग्रामीण जीवन को सजीव बनाने की अद्भुत क्षमता है। गाँधी जी का वाङ्मय बहुत विस्तृत है, ग्रामीण जीवन की पगडंडियों से लेकर राजनीति

के जटिल पहलुओं तक उसकी सीमा है। सामाजिक उत्थान को ध्यान में रख कर नवजीवन प्रकाशन ने छोटी-छोटी पुस्तकों में जो यह गाँधी साहित्य सस्ते मूल्य में सुलभ किया है, उसका यह कार्य सराहनीय है।

गांधी जी के पावन प्रसंग ३ : लेखक––लल्लू भाई मकन जी; प्रकाशक––नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद–१४; मूल्य ३५ नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक गुजराती से हिन्दी में अनुवाद की गयी है। इसमें गांधी जी के जीवन से सम्बन्धित १२ प्रसंगों को कहानी के रूप में उद्धृत किया गया है। कहानी के रूप में ये प्रसंग प्रौढ़ों और बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। इनसे हमारे लोकजीवन को प्रकाश और प्रगति की प्राप्ति हो सकती है।

––जयशंकर त्रिपाठी

राजस्थान-साहित्य-परम्परा और प्रगति : लेखक––डा० सरनाम सिंह; प्रकाशक––हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली–६; मूल्य दो रुपया।

हिन्दी साहित्य पर राजस्थानी साहित्य का महत्वपूर्ण प्रभाव सर्व विदित है। हिन्दी साहित्य में प्रत्येक विद्यार्थी को राजस्थानी साहित्य का उद्भव, उसका प्रौढ़ रूप, परम्परा, उत्थान-पतन, वर्तमान गति और मोड़ जानना अनिवार्य है। लेखक ने अपने अध्यापन-अनुभव के आधार पर विद्यार्थियों की मांग को समझा है और उसकी पूर्ति करने की चेष्टा की है। ऐतिहासिक अन्वेषणों से प्राप्त पूर्व कालीन, मध्य कालीन तथा आधुनिक काल के राजस्थानी साहित्य का उचित स्तर पर विश्लेषण किया गया है। राजस्थानी का हिन्दी पर महत्वपूर्ण प्रभाव है। पुस्तक में राजस्थान का प्राचीन साहित्य, चारण तथा जैन काव्य, उनकी प्रवृत्तियाँ, मध्ययुगीन साहित्य के चारण तथा संत कवि, उनके काव्य तथा आधुनिक साहित्य के मूल स्वर, परम्परा, परिस्थितियाँ जनित मोड़ और गति, इस पर खड़ी बोली का प्रभाव, इसके लेखक, नाटककार, गीतकार आदि पर इस पुस्तक में सुंदर प्रकाश डाला गया है।

वर्तमान राजस्थानी साहित्य त्वरित गति से अपना कदम आगे बढ़ा रहा है। इसमें नई चेतना और स्फूर्ति आ रही है। समय की गति और माँग को राजस्थानी साहित्य समझने की चेष्टा कर रहा है और फलस्वरूप इसका नवीन साहित्य से सबंध हो रहा है। पुस्तक में लेखक ने तीनों काल के साहित्य की रूपरेखा खींचने तथा स्पष्ट करने साथ ही वर्त्तमान की विषद व्याख्या भी की है। आशा है राजस्थानी साहित्य में रुचि रखने वाले साहित्यिकों तथा विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक लाभप्रद सिद्ध होगी।

पंजाब की प्रीत : **(कहानियाँ)** रचयिता––श्री हरिकृष्ण प्रेमी; प्रकाशक––आतमा राम एण्ड संस, दिल्ली; मूल्य ३ रुपये ५० नये पैसे।

प्रस्तुत पुस्तक श्री हरिकृष्ण प्रेमी रचित पाँच रेडियो संगीत नाटिकाओं का संग्रह है। पंजाब की प्रेम गाथाएं पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी हैं। हीर राँझा, सोहनी महिवाल आदि प्रणय-गाथाओं का संगीत नाटिकाओं में चित्रांकन करके कवि ने हिन्दी साहित्य की एक

माँग की पूर्ति की है। अपनी कल्पना की प्रतिभा का सम्मिश्रण कर कवि ने इन लोकगाथाओं की परम्परा को बनाए रखने के साथ-साथ उनको अत्यन्त मार्मिक और हृदयस्पर्शी भी बना दिया है। कथा की भाषा सरल, उर्दू मिश्रित हिन्दी है। पंजाबी शब्दों का स्थान-स्थान पर प्रयोग भी किया गया है। जालंधर रेडियो के लिए ही इन नाटिकाओं का सृजन हुआ है, इसीलिए भाषा और भाव दोनों ही अत्यंत साधारण स्तर के बन पड़े हैं। पद्य-पंक्तियों में भी कहीं-कहीं काव्य-दृष्टि से कुछ दोष आ गया है किन्तु इस ध्वनि-कथा को संगीत का रूप देते समय यह साधारण त्रुटियाँ अवश्य अदृश्य हो गयी होंगी। नाटक पठन की दृष्टि से लिखे भी नहीं गए अन्यथा प्रेमी जी जैसे कुशल साहित्यिक से हम कुछ और ऊंचे स्तर की पद्य-रचनाओं की अपेक्षा रखते हैं।

—शकुन्तला सिरोठिया, एम० ए०

माताभूमि : लेखक—श्री जयशंकर त्रिपाठी; प्रकाशक—कौशाम्बी प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद; मूल्य, दो रुपये।

हिन्दी के तरुण कवि और लेखक श्री जयशंकर त्रिपाठी के निबन्धों का यह संग्रह अपने ढंग का अनूठा है। भावुक कवि ने देहाती मिट्टी के ऊंचे टीलों पर बैठकर वहां की प्रकृति और लोक जीवन में डूबकर इन शब्दचित्रों का चित्रण किया है। प्रत्येक चित्र का अपना मौलिक रंग, भाव और अंकन है। निबन्धों में बीच-बीच में पाठकों को अन्तर्मुखी बनानेवाली ओजस्वी विचारों की लहर है। शैली आकर्षक और प्राणवान् है। वस्तुतः ग्राम-प्रकृति और ग्राम-जीवन की उद्भावनाओं से भरेपूरे ये निबन्ध, भविष्य में हिन्दी साहित्य के एक बड़े अभाव की पूर्ति के संकेत हैं। 'सरस्वती की खोज', 'पानी से धुले पृष्ठ', 'भूखा मानव', 'मट्ठे और घी का बँटवारा' 'चाँदी की सड़क और मिट्टी के खेत', 'हेमन्त का अवतरण' और 'कचनार की हँसी' जैसे निबन्ध पाठकों को भावना के आनन्द, आदर्श और यथार्थ की कौंध के साथ सामाजिक सत्य और ऐतिहासिक तथ्य की गहराई में उतार देते हैं। साहित्य की सक्रियता इन निबन्धों में है। कविवर पन्त के इन शब्दों से, कि "यह कृति ग्राम तथा नगर-जीवन के बीच सहानुभूति की सुनहली पुल का काम करेगी।" प्रत्येक विचारशील सहृदय पाठक सहमत होगा। 'माताभूमि' की पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते हम गांव की अनोखी छटा में खो जाते हैं। साथ ही उन पंक्तियों में जन-जीवन की समस्याओं को स्पर्श करनेवाले शब्द-अर्थ हमारे हृदय में आग जगा देते हैं और आँखों में आँसू ला देते हैं।

पुस्तक के आरम्भ में लेखक की यह प्रतिज्ञा कि "छोटे पहाड़ से निकलनेवाली कुँआरी नदी का तट, जिस पर नागरमोथों की छाया है और गांव की कुँवारी धरती की पगडंडियों, जिसके दोनों ओर हरीभरी वनस्पतियाँ कुसुमित हैं, वहीं चलकर ओज और रस बरसाती सरस्वती के दर्शन की आकांक्षा है"—निस्सन्देह इन शब्दचित्रों के अंकन में पूरी हुई है। राष्ट्र, संस्कृति और साहित्य तीनों की जीवनधारा 'माताभूमि' के निबन्धों में है। ग्राम्यधरती के नदी नालों को लाँघ कर, धूलमाटी लगाकर, कुशकाँटों में समाधिस्थ होकर, ग्राम्य-चेतना का यह मंत्रदर्शन लेखक ने किया है। पवित्र ऋचाओं की भाँति ये शब्दचित्र विचारशक्ति से शक्तिमान् हैं और काव्य की सुरभि से सराबोर होकर सिरहाने पर रखे एक अंजुली हरसिंगार के फूल-जैसे पढ़ने के बाद भी हृदय पर छाये रहते हैं।

—राधारमण मिश्र

सम्पादकीय

(१)

केन्द्रीय शासन और राजभाषा हिन्दी

यों तो राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति हमारे केन्द्रीय शासन की नीति सदा से असन्तोषजनक रही है किन्तु इधर पिछले दो महीनों में उसने कुछ ऐसे कदम बढ़ाए है, जिनसे हिन्दी की शक्ति को काफ़ी धक्का लगा है। केन्द्रीय शासन ने इधर भारतीय भाषाओं विशेषकर हिन्दी नागरी के कार्यों में भी रोमन अंकों के प्रयोग को अनिवार्यता देने का निश्चय किया है। भारतीय संविधान की भाषा सम्बन्धी धाराओं पर जिस समय विचार किया जा रहा था उस समय राष्ट्रलिपि नागरी में रोमन अंकों के प्रयोग का संविधान सभा के अनेक वरिष्ट सदस्यों ने तीव्र विरोध किया था। किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय सन्तुष्टीकरण की भावना से, अनेक अंग्रेजी भक्त सदस्यों के सन्तोषार्थ, रोमन अंकों के साथ भारतीय अंकों को भी किसी प्रकार मान्यता दे दी गई। राष्ट्रभाषा सम्बन्धी महत्वपूर्ण मसले को निर्विरोध तय हो जाने की सदिच्छा से ही उस समय यह गरल-पान कर लिया गया और उक्त धाराओं में यह प्रयोक्ता के विवेक पर छोड़ दिया गया कि वह नागरी लिपि के साथ चाहे तो रोमन अंकों का प्रयोग करे और चाहे नागरी अंकों का। तब से होता भी ऐसा ही रहा। अब तक स्वयं केन्द्रीय शासन के अनेक हिन्दी प्रकाशनों में नागरी अंकों का प्रयोग ोता रहा है। रेलवे की समय सारिणी, आकाशवाणी के मुखपत्र सारंग, केन्द्रीय सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के विविध प्रकाशन इस बात के प्रमाण हैं कि पिछले दस-बारह वर्षों तक केन्द्रीय सरकार नागरी अंकों का बराबर प्रयोग करती रही है, किन्तु इधर उसने न केवल अपने सरकारी प्रकाशनों में ही रोमन अंकों के प्रयोग की अनिवार्यता की है, वरन् केन्द्रीय शासन द्वारा सहायता प्राप्त संस्थाओं के प्रकाशनों में भी रोमन अंकों के प्रयोग को अनिवार्य करने के आदेश दिये गये हैं। यही नहीं, केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय के तत्वावधान में आयोजित केन्द्रीय शिक्षा परामर्श दात्री समिति ने हिन्दी भाषी राज्यों की सरकारों को अपने यहां की विज्ञान तथा गणित आदि की पाठ्य पुस्तकों आदि में भी इन्हीं रोमन अंकों के प्रयोग का सुझाव दिया है और स्वराष्ट्र मंत्रालय ने समस्त केन्द्रीय विभागों को अपने अपने विभाग के हिन्दी कार्यों में रोमन अंकों को अनिवार्य रूप से अपनाने का निर्देशन जारी किया है।

अंक किसी भी लिपि एवं उसकी भाषा के अविभाज्य अंग होते हैं और उस लिपि एवं भाषा के जन्मकाल से ही उनका एक रूप होता है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी एवं नागरी का प्रयोग जब से हमारे देश में आरम्भ हुआ है तभी से देवनागरी लिपि के साथ नागरी अंकों का

भी प्रयोग होता आया है। यही नहीं विदेशों में जानेवाले भारतीय भी उन्हीं का प्रयोग करते रहे हैं। हिन्दी भाषा का जन्म आज नहीं हुआ है वह शताब्दियों पूर्व से हमारे इस विशाल देश की अधिकांश जनता एवं भूभाग पर छाई हुई है। विदेशी विद्वान् भी मुक्तकण्ठ से हमारी नागरी लिपि का गुणगान करते नहीं अघाते। इसकी विशेषता यह है कि इसमें जो कुछ लिखा जाता है, वही पढ़ा भी जाता है। नागरी लिपि की वैज्ञानिकता एवं सुगमता में उसके अंकों का भी महत्वपूर्ण योगदान है, यही कारण है कि ६ आदि अंक वर्णमाला के ६ अक्षर की भांति ही लिखे और पढ़े जाते हैं। और हिन्दी ही क्यों, नागरी लिपि एवं नागरी अंक तो सहस्रों वर्षों से संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के ग्रन्थों के साथ हमारे देश के सभी भागों में प्रयुक्त होते आये हैं और आज का उपलब्ध समस्त संस्कृत वाङ्मय इन्हीं नागरी अंकों में सुलभ है। हमारे देश के अधिकांश भूभाग में कोटि कोटि जनता इन अंकों का सदा से व्यवहार करती आई है और ये सब प्रकार से नागरी लिपि के अविभाज्य अंग बन गए हैं। तब फिर केन्द्रीय शासन अंग्रेजी भक्तों की प्रसन्नता के लिए रोमन अंकों के प्रयोग की जो अनिवार्यता का आदेश दे रहा है, वह सर्वथा अनुचित, राष्ट्रीय शक्ति का क्षयकारक एवं राष्ट्रीय सम्मान का विघातक है। ध्यान से देखा जाय तो रोमन अंकों के पक्षपाती वे ही लोग हैं जो अतीत में ही नहीं आज भी यद-कदा उच्चस्वर से रोमन लिपि के प्रयोग की बातें करते हैं और अनेक विघ्नबाधाएं डालकर हिन्दी की उन्नति एवं विकास के पथ में रोड़ा अटकाना चाहते हैं।

भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक राज्य में वहां की शिक्षा का सारा दायित्व राज्य सरकारों पर है, किन्तु हमारा केन्द्रीय शिक्षा विभाग राज्यों की सरकारों को भी रोमन अंकों के प्रयोग का जो अयाचित सुझाव या परामर्श दे रहा है, वह अत्यन्त अनधिकारपूर्ण चेष्टामात्र है। कदाचित् केन्द्रीय सरकार यह जानती है कि हिन्दी भाषी राज्य सरकारों द्वारा रोमन अंकों के प्रयोग की बात स्वीकार करना अत्यन्त कठिन है, अतः वह इस ओर सचेष्ट है। यह कितने खेद की बात है कि मुट्ठी भर अंग्रेजी भक्तों एवं हिन्दी के प्रति साधुदृष्टि न रखने वाले प्रभावशाली व्यक्तियों के सन्तोषार्थ केन्द्रीय सरकार इस मतिभ्रम में पड़ गई है। रोमन और नागरी अंकों के स्वरूपों में तत्वतः बहुत थोड़ा अन्तर पड़ता है। अतः बुद्धि एवं न्याय का तकाजा यही है कि हमारे देश के कुछ भागों में जो थोड़े लोग पिछले कुछ वर्षों से रोमन अंकों के प्रेमी या अभ्यासी बन गए हैं वे ही आत्मगौरव के रक्षार्थ भारतीय नागरी अंकों का प्रयोग आरम्भ करें। जब उन्होंने अंग्रेजी शासन सत्ता के साथ अंग्रेजी भाषा का भार उठाना अस्वीकार कर दिया तो इन अंकों के मोह जाल में वह क्यों फँस रहे हैं?

हमारा अनुरोध है कि हिन्दी भाषी राज्य सरकारें केन्द्रीय शिक्षा परामर्श-दात्री समिति के इस अनर्थकारी सुझाव को उसी प्रकार ठुकरा दें जिस प्रकार हिन्दी विश्वकोष के कतिपय स्थलों पर रोमन अंकों के प्रयोग को अनिवार्य बताने वाले केन्द्रीय शिक्षा विभाग के प्रस्ताव को काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्रबन्ध समिति ने ठुकरा दिया था। सभा की प्रबन्ध समिति के इस निश्चय का सारे देश में स्वागत किया गया। किंतु पिछले दिनों हमें यह ज्ञात हुआ है कि भारत सरकार के शिक्षा-मंत्रालय और नागरी प्रचारिणी सभा के अधिकारियों के बीच इस आशय का एक

समझौता हुआ है कि 'विश्वकोष' में सर्वत्र देवनागरी अंकों और अक्षरों का प्रयोग होगा। केवल वैज्ञानिक और टेक्नालोजी से संबंधित विषयों में हिन्दी और देवनागरी के साथ सूत्र आदि में अंग्रेजी तथा भारतीय अंकों के अन्तर्राष्ट्रीय रूप का प्रयोग होगा। इस निर्णय से हमें प्रसन्नता अवश्य हुई और इसलिए कि किसी प्रकार काम तो आगे बढ़ा और सरकार की ओर से आगे बढ़ाया जाने वाला कदम पीछे की ओर हटाया गया। हमें आशा है कि भविष्य में सरकार इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय अंकों को कम से कम हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के शासन-कार्यों में जबरदस्ती लादने की चेष्टा से विरत हो जायेगी। इस समय हिन्दी का काम जैसा भी चल रहा है, उसे चलने देना चाहिए, व्यर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय अंकों का प्रश्न सामने लाकर समस्या को उलझाना और राष्ट्रभाषा के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करना उचित नहीं है। यदि सरकार का कार्य पिछले दस वर्षों में बिना अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के प्रयोग के निर्विघ्न चलाया जा सकता था तो आज कौन-सी ऐसी भयानक परिस्थिति उत्पन्न हो गई है कि बिना अन्तर्राष्ट्रीय अंकों के प्रयोग के काम ही नहीं चल सकेगा। अंग्रेजी के पृष्ठपोषक भले ही इसका समर्थन करें किन्तु राष्ट्रभाषा हिन्दी के पक्षपाती इस प्रकार के बेतुके कार्य का समर्थन कैसे कर सकते हैं?

(२)

अभी कुछ ही दिनों पूर्व भारतीय लोक सभा में स्वराष्ट्र मंत्री की एक सूचना से ज्ञात हुआ है कि केन्द्रीय सरकार अंग्रेजी को भारत गणराज्य की एक वैकल्पिक राजभाषा के रूप में मान्यता देने के लिए भारतीय संविधान के संशोधनार्थ एक विधेयक प्रस्तुत करने वाली है। इस विधेयक के स्वीकार कर लिए जाने के अनन्तर अंग्रेजी अनन्तकाल तक भारत गणराज्य की वैकल्पिक राज्यभाषा बनी रहेगी और तब हिन्दी से उसे तत्काल कोई भय नहीं रहेगा। यदि यह विधेयक स्वीकार न किया जाता तो संविधान के अनुसार सन् १९६५ तक अंग्रेजी को राजभाषा के रूप में अपदस्थ हो जाना पड़ता। क्योंकि भारतीय संविधान की स्वीकृति के समय उसे १५ वर्ष की अन्तरिम अवधि के लिए राजभाषा पद पर इसलिए रहने दिया गया था कि तब तक हिन्दी अपने दायित्वों को संभालने के लिए सक्षम हो जायगी।

इन स्तम्भों में अनेक बार हम अपनी व्यथा प्रकट कर चुके हैं कि केन्द्रीय सरकार किस प्रकार प्रच्छन्न रीति से अंग्रेजी को अनन्तकाल तक भारत गणराज्य की राजभाषा के पद पर बिठाए रहना चाहती है और हिन्दी को किसी भी तरह से राजभाषा के पद पर बैठाना नहीं चाहती। कहने के लिए तो नक्राश्रु की भांति लोक सभा एवं राज्य सभा में तथा बाहर की सभाओं में केन्द्रीय शासन के कर्णधार हिन्दी की उन्नति की आकांक्षा यदा कदा प्रकट करते रहते हैं और उसकी प्रशंसा भी किया करते हैं किन्तु भीतर भीतर उनका यह प्रयत्न चलता रहता है कि अंग्रेजी को तत्काल या उनके जीवन काल तक शासन-कार्य से हटाना न पड़े। अब उनके इस नूतन प्रयत्न के द्वारा अंग्रेजी को पन्द्रह वर्ष ही क्या आगामी कितने ही वर्षों बाद तक भी राजभाषा के पद से पृथक नहीं किया जा सकेगा। क्योंकि जब संविधान में पन्द्रह वर्ष की सीमित अवधि का उल्लेख होने पर भी इतने वर्षों के भीतर हिन्दी को राजकार्यों में कोई समुचित स्थान या समादर नहीं दिया जा सका तो

इस विधेयक द्वारा संविधान के संशोधन से वैकल्पिक भाषा की मान्यता प्राप्त कर लेने पर अंग्रेजी को अपदस्थ करने का अवसर अब कब आएगा--यह कहा नहीं जा सकता। और तब फलतः हिन्दी की उन्नति एवं प्रचार-प्रसार के प्रयत्नों में केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभागों द्वारा अब तक जो प्रेम दिखाया जाता रहा, उसकी भी आवश्यकता नहीं रह जायगी और अंग्रेजी अपनी पूर्व स्थिति पर यथापूर्व स्थिर रहेगी।

आज देश के प्रशासन में कांग्रेस सब से बड़ी शक्ति है। उसके अनुयायियों में हिन्दी प्रेमियों की कमी नहीं है किन्तु दुर्भाग्य यह है कि दो चार शीर्षस्थ नेताओं की अंग्रेजी भक्ति के कारण हिन्दी का अपमान देखकर भी अंग्रेजी और अंग्रेजियत के मद में दीवाने संसद् के सदस्यगण कुछ कहना नहीं चाहते। उन्हें भय है कि बड़ों की बातों का उल्लंघन कर कहीं हम अपदस्थ न कर दिए जायं। क्योंकि अतीत में यह सत्य उतरा है कि हमारे देश के जिन महान् नेताओं ने हिन्दी के लिए अपनी आवाज ऊंची की है उन्हें शासन के ऊंचे पदों से वंचित होना पड़ा है। अतः हमें दुःखपूर्वक यह विश्वास करना पड़ता है कि लोक सभा में स्वराष्ट्र मंत्री का उक्त भाषा संबंधी विधेयक अवश्य स्वीकार कर लिया जायगा और हमारी राष्ट्रभाषा हिन्दी की अभ्युन्नति एवं महत्वाकांक्षा सदा के लिए अधर में लटका दी जायगी। खेद यही है कि लोक सभा एवं राज्य सभा में हिन्दी के अग्रणी नेताओं की कमी है, जो इने-गिने सज्जन हैं, वे शासन के पदों से वहिष्कृत रखे गए हैं और जब कभी वे हिन्दी की कोई बात करते हैं तो लोग यही समझते हैं कि यह तो उनका पुराना रोग है। किन्तु इस बार का प्रश्न हिन्दी के भविष्य के लिए उसके जीवन-मरण का प्रश्न है। शासन यदि इसे इसी रूप में स्वीकार कर लेता है, जैसी कि स्वराष्ट्र मंत्री ने सूचित किया है तो यह मानना पड़ेगा कि हमारी संसद में भी दुर्योधन की सभा की सी स्थिति है जहाँ हिन्दी द्रौपदी की चीर का अपहरण देखकर भी भय या स्वार्थवश चुप्पी साध ली जाती है और हृदय की बात मुंह के बाहर नहीं आने पाती। किन्तु शीघ्र ही कोई समय ऐसा आएगा जब इन अंग्रेज़ी के परम भक्त नेताओं के बाद भारतीय जनता की प्रबुद्ध पीढ़ी हिन्दी को उच्चासनारूढ़ करेगी और हिन्दी के सबल हाथों में राजसत्ता का भी भार सौंपेगी।

● ● ●

भारतीय भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि

भारतीय संसद में श्री प्रकाशवीर शास्त्री ने इस आशय का एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया था कि समस्त भारतीय भाषाओं के लिए एक देवनागरी लिपि अपनाई जाये। हमारे विशाल देश की भावनात्मक एकता के दृढ़ीकरण के लिए श्री प्रकाशवीर शास्त्री का यह प्रस्ताव अत्यन्त उपयोगी, सामयिक, एवं दूरदर्शितापूर्ण था। इस प्रकार के गैर सरकारी प्रयत्न अतीत में भी हुए हैं और यह सौभाग्य का विषय है कि इसकी आवश्यकता सर्वप्रथम अहिन्दी भाषियों ने अनुभव की थी। कलकत्ता हाइकोर्ट के एक पदनिवृत्त न्यायाधीश श्री शारदाचरण मित्र ने आज से पचास साठ वर्ष पूर्व इस दिशा में सक्रिय कदम उठाया था और एक लिपि विस्तार

परिषद् द्वारा उनके सम्पादकत्व में 'देवनागर' नाम का एक महत्वपूर्ण पत्र प्रकाशित किया गया था, जिसमें भारतवर्ष की अनेक भाषाओं का साहित्य देवनागरी लिपि के माध्यम से उपलब्ध किया जाता था। वर्तमान भारतीय संसद की संसदीय हिन्दी समिति द्वारा शारदा बाबू के उस पुराने प्रयत्न को आज भी मूर्तरूप दिया जाता रहा और 'देवनागर' जैसे उपयोगी पत्र की सर्वत्र प्रशंसा की जाती रही है।

आज हमारा देश यद्यपि बहु भाषा-भाषी है किन्तु सौभाग्य वश देववाणी संस्कृत एवं देवनागरी लिपि के प्रयोग एवं अन्य कारणों से वह सहस्रों वर्षों से सांस्कृतिक एकता के एक ऐसे दृढ़ बन्धन में बँधा रहा कि अनेक भीषण विपदाओं एवं कठिन परिस्थितियों में भी उसमें विभेद नहीं पैदा हुए। राजनीतिक कारणों से इधर विभेद एवं अनेकता के अंकुर दिखाई पड़ने लगे हैं और चतुर्दिक यह अनुभव किया जाने लगा है कि भाषा या सम्प्रदाय को आधार मानने के कारण हमारी राष्ट्रीय एकता को भय पैदा हो गया है। अतः समूचे देश में भावनात्मक एकता के उपायों को सशक्त बनाना परम आवश्यक है। ऐसे उपायों में समस्त भारतीय भाषाओं का देवनागरी-करण भी एक अमोघ एवं दूरदर्शितापूर्ण उपाय है। यदि भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओं के लिए देवनागरी लिपि अपना ली जाय तो न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी की शक्ति ही बढ़ेगी, वरन् अपनी दुर्बोध लिपियों के कारण जो दो चार भारतीय भाषाएँ सर्वसाधारण के लिए अत्यन्त कठिन बन गई हैं, उनके पढ़नेवालों की संख्या भी बहुत बढ़ जायगी।

देवनागरी लिपि का प्रचार-प्रसार सभी राज्यों में है। यों तो राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार के कारण पिछले पचास साठ वर्षों में वह सर्वव्यापी बन गई है, किन्तु संस्कृत की एकमात्र लिपि होने के कारण शताब्दियों पूर्व से यह सर्वत्र सुगम रही है। अपनी सहज वैज्ञानिक विशेषताओं के कारण उसकी सुबोधता और सरलता भी सर्व प्रसिद्ध है। सभी भारतीय भाषाओं द्वारा देवनागरी लिपि अपनाने का यह भी सुपरिणाम होगा कि किसी भी भाषा का साहित्य हिन्दी के मुद्रणालयों में मुद्रित किया जा सकेगा और हिन्दी टाइप राइटर आदि की सुविधाएं भी उन्हें प्राप्त होंगी। देश भर में एक लिपि को स्वीकार करने का यह भी सुफल होगा कि एक ही व्यक्ति अनेक भाषाओं में दक्षता प्राप्त कर सकेगा, और अन्य भाषाओं को सीखने में बड़ी सुविधा हो जायगी। हमारे देश की प्रायः सभी प्रादेशिक भाषाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है और जहां तक बंगला, गुजराती, मराठी, असमी, उड़िया और पंजाबी भाषाओं का प्रश्न है यदि वे देवनागरी लिपि में प्रस्तुत कर दी जायं तो हिन्दी अथवा संस्कृत जाननेवाले स्वल्प परिश्रम द्वारा ही उनके साहित्यों का रसास्वादन भी कर सकते हैं। अतः यह तो इन भाषाओं के लेखकों और प्रकाशकों के लिये भी एक हितकर कार्य भी है क्योंकि देवनागरी लिपि द्वारा उनके पाठकों की संख्या में अधिक वृद्धि होगी। यद्यपि संसद में साधारण वाद विवाद के उपरान्त शास्त्री जी ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया किंतु हम चाहते हैं कि भारतीय संसद् में उपस्थित सभी भारतीय भाषाओं के सदस्यगण श्री शास्त्री जी के इस लोकोपयोगी और अत्यन्त महत्वपूर्ण सुझाव को हार्दिक प्रोत्साहन देकर भाषा संबंधी राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाने का श्रेय प्राप्त करेंगे।

शिक्षा का माध्यम–हिन्दी

इन स्तम्भों में हम बराबर यह विचार प्रकट करते रहे हैं कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा मातृभाषा विशेषकर हिन्दी भाषाभाषी प्रदेशों में हिन्दी के माध्यम से होनी चाहिए, किंतु अभी तक इस ओर कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया है। हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान ग्रहण करने तथा राष्ट्रभाषा के पद पर पूर्ण रूप से आसीन होने के लिए अब केवल चार वर्ष की अवधि शेष है। अब तो जान यही पड़ता है कि अंग्रेजीवालों तथा उसके समर्थकों पर ही भाषा तथा राष्ट्र का भविष्य, अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी, निर्भर करता है। इसे दुर्भाग्य के सिवा और क्या कहा जाये। उत्तर प्रदेश में छः विश्वविद्यालय हैं। मध्यप्रदेश, राजस्थान और बिहार में भी कई विश्वविद्यालय हैं। इन प्रदेशों की मातृभाषा हिन्दी है। प्रति वर्ष हिन्दी में सहस्रों पुस्तकें इन प्रदेशों से प्रकाशित होती हैं। प्रदेशीय सरकारों द्वारा हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि प्रदेश की राजभाषा और राजलिपि भी घोषित हो चुकी है किंतु उच्च शिक्षा के निमित्त अभी तक अंग्रेजी भाषा का ही उपयोग हो रहा है। ऐसा होने का एक प्रमुख कारण है अंग्रेजी के परम पक्षपातियों के हाथों में विश्वविद्यालयों की सत्ता। इन सत्ताधीशों और इनके समर्थकों का रहन-सहन, विचार-धारा, सोचने-समझने और विचार-विनिमय की प्रणाली सभी अंग्रेज़ी से प्रभावित है। हिन्दी अपनाने में इन्हें संकोच तो होता ही है साथ ही यह अपने स्तर के निम्न होने का भी अनुभव करते हैं जिसे अंग्रेज़ी में 'सुपीरियटी कम्प्लेक्स' की संज्ञा दी जा सकती है। प्रदेशीय सरकारों ने हिन्दी को राज्य भाषा घोषित कर के उसे एक कानूनी रूप अवश्य दे दिया है किंतु विश्वविद्यालयों के अधिकारियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। अंग्रेजीदाँ लोगों का यह तर्क है कि यदि हिन्दी में उच्च शिक्षा का पठन-पाठन होने लगेगा तो शिक्षा का स्तर गिर जायेगा। उनका दूसरा तर्क यह है कि हिन्दी में अभी वैज्ञानिक तथा प्राविधिक शब्दों का अभाव है। जब तक अंग्रेजी के समकक्ष हिन्दी कोषों का निर्माण और शब्दों का प्रचलन न हो जाये तब तक अंग्रेजी का उच्चासन छोड़ देना उचित नहीं है। किंतु क्या हम इस प्रकार के तर्कों से अपनी राष्ट्रीयता की सुरक्षा कर सकेंगे? सत्य तो यह है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के दस वर्ष बाद भी अंग्रेजी के भक्तों को राष्ट्रीयता का अनुभव नहीं हो रहा है। पिछले दिनों बड़े होहल्ला के बाद जिस प्रकार प्रयाग विश्वविद्यालय में दीक्षांत समारोह हिन्दी और संस्कृत के माध्यम से सम्पन्न हुआ और वास्तव में सफलतापूर्वक हुआ एवं एक नई परंपरा स्थापित हुई उसी प्रकार यदि शिक्षा भी हिन्दी के माध्यम से होने लगे तो किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। काशी विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य और आदर्श ही मातृभाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा का विकास करना रहा है किंतु वहां भी अभी अंग्रेजी का बोल-बाला है। लखनऊ, आगरा, गोरखपुर, अलीगढ़ विश्वविद्यालयों की स्थिति भी इसी प्रकार की है। अन्य हिन्दी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में भी अंग्रेजी की स्थिति पूर्ववत है। सच तो यह है कि यदि आज विश्वविद्यालयों में हिन्दी के माध्यम से उच्च शिक्षा विभिन्न विषयों में दी जाने लगे तो उसे व्यापक बनाने के निमित्त आवश्यक साधन अपने आप सुलभ हो जायेंगे, न पुस्तकों की कमी रहेगी

और न पढ़ने-पढ़ाने में कोई कठिनाई उत्पन्न होगी। आवश्यकता है केवल क्रियाशील होने की। आवश्यकतानुसार ही साधन भी सुलभ होता है। साधन मात्र से आवश्यकता की पूर्ति नहीं होती। इसलिए हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के अधिकारियों, कार्य समितियों के सदस्यों तथा विभिन्न विषयों के हिन्दी प्रेमी प्राध्यापकों से हमारा अनुरोध है कि वह शिक्षा को हिन्दी के माध्यम से गतिवान बनाने की दिशा में अग्रसर हों और भारतीय संविधान के उस निर्णय का पालन करें जिसके द्वारा सन् १९६५ में हिन्दी को अंग्रेजी का स्थान प्राप्त होने वाला है। हमें खेद है कि आज जो विद्यार्थी, जापान, रूस, चीन, जर्मनी तथा अन्यान्य विदेशी राष्ट्रों से भारत में राष्ट्रभाषा हिन्दी सीखने आते हैं उन्हें विश्वविद्यालयों की अंग्रेजी-भक्ति देख कर बड़ा खेद होता है। उन्हें यह देख कर आश्चर्य होता है कि भारत को स्वतंत्र हुए १० वर्ष व्यतीत हो गये हैं, अंग्रेज यहां से चले गये किंतु अंग्रेजी की पराधीनता अभी तक पूर्ववत् बनी हुई है।

जहाँ एक ओर हमें हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के अंग्रेजी प्रेम के प्रति क्षोभ होता है वहाँ दूसरी ओर अन्य प्रदेशों में, जहाँ की मातृभाषा हिन्दी नहीं है, हिन्दी के उन्नयन के प्रति होने वाले कार्यों के प्रति बड़ी प्रसन्नता होती है। अभी हाल में गुजरात विश्वविद्यालय ने हिन्दी को उच्च शिक्षा का माध्यम स्वीकृत किया है। इसी प्रकार महाराष्ट्र और आंध्र प्रदेश भी इस दिशा के दूरगामी ध्येय की पूर्ति की ओर पग बढ़ा रहे हैं। इन प्रदेशों का उच्च शिक्षित वर्ग बड़ी तेजी से राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा है जो हिन्दी प्रदेशों के शिक्षित अंग्रेजी भक्तों के लिए अनुकरणीय और आदरणीय है।

● ● ●

अश्लील और भ्रष्ट साहित्य

साहित्य सत्यं शिवं सुंदरम् का प्रतीक है। साहित्य से ही समाज का निर्माण होता है, साहित्य मानवता का मार्ग दर्शक और जीवन को मंगलमय बनाने तथा चेतना को उन्मुख करने का एक मात्र साधन है। प्राचीन आचार्यों ने भी साहित्य की परिभाषा में भी इसी ओर संकेत किया है। इस दृष्टि से हिन्दी का पिछले सैकड़ों वर्षों का साहित्य संसार की अन्यान्य भाषाओं के साहित्य की तुलना में अपनी एक विशेषता और प्रभुता रखता है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन हिन्दी साहित्य का आदर्श और उद्देश्य भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणादायक रहा है किंतु दुःख का विषय है कि पिछले दस-पन्द्रह वर्षों में शिष्ट साहित्य के सृजन के साथ ही अश्लील और भ्रष्ट साहित्य का सृजन भी कम मात्रा में नहीं हुआ। यह देन पश्चिम की है। पश्चिमी साहित्य से ही हिन्दी लेखकों को भ्रष्ट तथा अश्लील साहित्य के निर्माण की प्रेरणा प्राप्त हुई और हो रही है। जिस प्रकार आज की घृणित राजनीति ने समाज को अस्तव्यस्त और भ्रष्ट कर डाला है उसी प्रकार साहित्य भी उससे कम प्रभावित नहीं हुआ है। अश्लील, भ्रष्ट, वासनामय, चरित्रहीन, अनैतिक और आचारहीन साहित्य आज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। हिन्दी में ऐसे प्रकाशकों और लेखकों की संख्या बढ़ती जा रही है जिनके द्वारा घासलेटी साहित्य का सृजन व्यापक रूप से हो रहा है। वासनापूर्ण

रचनाओं के प्रकाशक धन भी अर्जित कर रहे हैं और प्रेम की आड़ में अश्लील साहित्य के प्रसार और प्रचार को प्रोत्साहन भी दे रहे हैं। लेखकों की स्थिति दयनीय है। पैसों के अभाव ने उन्हें गर्हित रचनायें रचने के लिए मजबूर कर दिया है। प्रकाशक थोड़े पैसों में उनसे भ्रष्ट, अश्लील और अनैतिक साहित्य की रचना करवा कर उनका मार्ग दर्शन कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि आज का युवक आचरणहीन बनता जा रहा है। शिष्ट साहित्य के पठन के प्रति प्रवृत्ति कम हो रही है। समाज के साधारण से साधारण पठित व्यक्ति की प्रवृत्ति सस्ती और गर्हित रचनायें पढ़ने की ओर बढ़ती जा रही हैं। साधारण पुस्तक विक्रेता सड़कों पर अश्लील और भ्रष्ट साहित्य की बिक्री खुले आम कर रहे हैं। कत्ल, खून, चोरी, डकैती, जेबकटी, व्यभिचार से पूर्ण अनर्गल रचनायें प्रेम और वासना की आड़ में पनप रही हैं। प्रकाशक और लेखक पैसे के पीछे पागल बन बैठे हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मनुष्य के जीवन में 'सेक्स' के सिवा अब कुछ रह ही नहीं गया है। उच्च कोटि के श्रेष्ठ साहित्य की बिक्री कम होती जा रही है और नैतिक आचरण को सुदृढ़ बनाने वाली रचनाओं का अभाव होता जा रहा है। कहा जाता है कि लोग निर्धन हैं, उनके पास पैसा नहीं है, अच्छी पुस्तकें कहां से खरीदें फिर भी अश्लील और भ्रष्ट पुस्तकों की बिक्री में कमी नहीं है। इसके लिए लोगों के पास पैसा कहां से आ जाता है? यह आज का एक ज्वलंत प्रश्न और चिंत्य समस्या है। इसका समाधान किस प्रकार से हो सकता है? इस पर विचार करने तथा इसके निराकरण के लिए सक्रिय उपायों का अवलंबन आवश्यक है।

स्वतंत्र भारत में साहित्यिक तथा सांस्कृतिक रचनाओं के उन्नयन के प्रति हमारी एक विशेष कल्पना थी। किंतु खेद है कि अंग्रेजों तथा अंग्रेजी में जितनी भी निंदनीय वृत्तियां हैं उन्हें तो हम अपना कर पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं और अपने साहित्यिक तथा सांस्कृतिक मर्यादाओं की रक्षा के प्रति उदासीनता दिखा रहे हैं। आखिर हिन्दी संसार में इस प्रकार उत्पन्न परिस्थिति के प्रति किसका उत्तरदायित्व है? हिन्दी में भ्रष्टता व्यापक हो रही है और स्तर के लेखक, प्रकाशक, समाज-निर्माता विशेषकर राष्ट्रीय सरकार कान में तेल डाले बैठी है। इसलिए आवश्यक है कि हिन्दी का प्रत्येक लेखक अश्लील और भ्रष्ट साहित्य के उन्मूलन के प्रति जागरूक हो। स्तर के प्रकाशकों ने भी अपने कई सुदृढ़ संगठन बना रखे है किंतु उन्हें केवल अपनी पुस्तकों की बिक्री के प्रति ही सचेत नहीं रहना चाहिए वरन् हिन्दी क्षेत्र में अश्लील साहित्य की बढ़ती हुई अराजकता के प्रतिरोध के प्रति भी उन्हें जागरूक होना चाहिए। समाज-निर्माताओं में केवल आचार्य विनोबा का प्रभाव स्तुत्य है, वह सत्साहित्य के प्रचार और सृजन के प्रति अत्यन्त जागरूक और सक्रिय हैं। किंतु सब से बड़ा उत्तरदायित्व है राष्ट्रीय सरकार का। सरकार को कानून बना कर अनैतिक साहित्य के सृजन में व्यवधान उत्पन्न करना चाहिए। समाज के नव निर्माण में अश्लील और भ्रष्ट साहित्य बाधक सिद्ध हो रहे हैं। और इसका उत्तरदायित्व सरकार पर कम नहीं है।

साहित्यकारों का सम्मान

स्वतंत्र भारत में राष्ट्रभाषा हिन्दी की समुन्नति, प्रसार एवं प्रचार को दृष्टि में रख कर

केन्द्रीय तथा प्रांतीय सरकारें पिछले कई वर्षों से गण्यमान्य साहित्यकारों को उनकी श्रेष्ठ कृतियों पर, सम्मानित करती आई हैं। उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की सरकारें इस दिशा में अग्रगण्य हैं। सब से अधिक गौरव का विषय यह है कि प्रत्येक वर्ष भारत के राष्ट्रपति गणतंत्र दिवस के उपलक्ष में भारतीय साहित्यकारों को उच्च उपाधियाँ प्रदान कर के उन्हें सम्मानित करते हैं। गत वर्ष गणतंत्र दिवस के उपलक्ष में भारत के तपःपूत तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्राण राजर्षि श्री पुरुषोत्तमदास टंडन को 'भारत रत्न' की उपाधि से विभूषित किया गया है। यद्यपि यह सम्मान राजर्षि को बहुत पहले ही प्राप्त हो जाना चाहिए था किन्तु विलम्ब से ही सही सरकार ने अपने कर्तव्य का पालन किया है। राजर्षि टंडन जी का व्यक्तित्व स्वयं सम्मानित है। राजर्षि को 'भारत रत्न' की उपाधि प्रदान कर के सरकार तो सम्मानित हुई ही है साथ ही हिन्दी जनता भी। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कलाकार और महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पंत तथा सुप्रसिद्ध हिन्दी नाटककार और राष्ट्रकर्मी सेठ गोविन्ददास को भी गणतंत्र दिवस के अवसर पर राष्ट्रपति ने 'पद्म भूषण' की उपाधियों से विभूषित किया है। हिन्दी जगत के लिए यह भी बड़ी प्रसन्नता का अवसर है। अभी कुछ दिनों पूर्व 'साहित्य अकादमी' ने भी 'कला और बूढ़ा चांद' नामक काव्य-ग्रंथ पर पांच सहस्त्र रुपए का पुरस्कार दे कर कवि श्री पंत जी का सम्मान किया है। इस वर्ष के पूर्व भी अनेक गण्यमान्य साहित्य-कारों को उनकी श्रेष्ठ कृतियों पर, सम्मान तथा पुरस्कार प्राप्त हो चुका है। सरकार की ओर से हिन्दी तथा साहित्यकारों को उपकृत करने के लिए अब तक जो कुछ और जितना भी किया गया है, वह एक राष्ट्रीय सरकार के लिए यद्यपि यथेष्ट नहीं है फिर भी अंग्रेजी के इस प्रभुत्व के युग में जितना भी हो रहा है या किया जा रहा है, उससे हम निराश नहीं हैं। किंतु इस दिशा में विशेष रूप से प्रयत्नशील होने की आवश्यकता है। विदेशों में वहां की सरकारें साहित्यकारों की गौरव वृद्धि और कीर्ति रक्षा के निमित्त जो कुछ और जितना भी कर रही है यहां उसका अभी शतांश भी नहीं हो रहा है। इसका मूल कारण है सरकार की अस्थिर मति और अंग्रेजी की गतिविधि के प्रति आकर्षण और प्रवृत्ति। हम चाहते हैं कि अनेक व्यर्थ के कार्यों में राष्ट्रीय संपत्ति का दुरुपयोग रोक कर साहित्यिक और सांस्कृतिक उन्नयन की ओर विशेष ध्यान दिया जाये। राष्ट्र निर्माण में साहित्य और साहित्यकारों का सहस्रों वर्षों से जो एकाधिकार रहा है, वैसा ही आज भी होना चाहिए। यदि ऐसा न होता तो वाल्मीकि, कालिदास, सूर और तुलसी की अंतःप्रेरणाएं भारतीयों की नस-नस में व्याप्त न होतीं। आज की सरकार को भी राजनीति से अधिक सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तथा भावनाओं को सुदृढ़ बनाने के लिए सक्रिय उपायों का अवलंबन करना चाहिए।

त्रैमासिक पत्रिका

"राष्ट्रवीणा"

सम्पादक---जेठालाल जोशी

पत्रिका में विद्वानों के चिंतनपूर्ण लेख, गुजराती के साहित्यिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, कला विषयक लेख, कहानियाँ, नाटक, कविताएँ, गुजराती भाषा सीखनेवालों के लिए उपयोगी सामग्री, आदि कई स्तम्भ नियमित रूप से प्रकाशित होते हैं। पुराने अंकों की फाइलें भी उपलब्ध हैं।

वार्षिक मूल्य ४) एक प्रति १)

गुजरात प्रान्तीय राष्ट्रभाषा प्रचार समिति,

राष्ट्रभाषा हिन्दी भवन, ऐलिसब्रिज,

अहमदाबाद-६
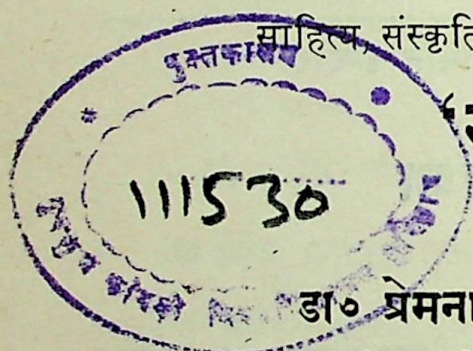
साहित्य, संस्कृति और कला-प्रधान मासिक-पत्रिका

'र स वं ती'

प्रधान संपादक

डा० प्रेमनारायण टंडन, पी-एच० डी०

'रसवंती' के प्रथम छः अंकों में

१०८ रचनाएँ छपी हैं।

प्रत्येक साहित्य-प्रेमी ने 'रसवंती' की प्रशंसा की है। आप भी इसे पढ़कर संतुष्ट होंगे। 'रसवंती' का द्विवार्षिक शुल्क बारह रुपए, वार्षिक सात रुपए, छमाही चार रुपए हैं। नमूने का अंक साठ नये पैसे मिलने पर भेजा जाता है। वी० पी० से 'रसवंती' मँगाने पर शुल्क के अतिरिक्त ७५ नए पैसे अधिक लगते हैं।

पता ---विद्यामंदिर, रानीकटरा, लखनऊ

‘सम्मेलन-पत्रिका’ का अनवद्य विशेषांक

कला-अंक

‘सम्मेलन-पत्रिका’ का सत्यं, शिवं, सुन्दरम् और स्वस्तिकम् इन चार विभागों में विभक्त कला-अंक सुपर रायल साइज में साढ़े पांच सौ पृष्ठों का कला विषयक एक सन्दर्भ, संग्रहणीय ग्रन्थ है। कलाओं की प्राचीनता, उनके उद्भव और विकास से लेकर वर्तमान कला प्रगतियों का सैद्धान्तिक विवेचन इस अंक की विशेषता है। आलोचकों, कलामर्मज्ञों की दृष्टि में यह कला अंक हिन्दी में कला विषयक सर्वप्रथम भारतीय सैद्धान्तिक और प्रयोगात्मक ग्रन्थ है। चित्रकला के अग्रदूत अवनीन्द्रनाथ ठाकुर कृत ‘भारत शिल्प के षडङ्ग’ नामक बँगला कृति का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद और विष्णुधर्मोत्तर पुराणान्तर्गत ‘चित्रसूत्रम्’ का भाषानुवाद सहित प्रकाशन हिन्दी में प्रथम बार इस अंक में हुआ है। साथ ही, प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर कलाओं की पूरी सूची, भारत के प्रसिद्ध कला-मंडप, कला, संस्कृति और पुरातत्त्व संबंधी ग्रन्थों की सूची, विश्व के अद्भुत स्मारक कलाचार्यों की नामावली प्रस्तुत कला अंक से अतिरिक्त कहीं अन्यत्र किसी एक स्थान पर मिलना संभव नहीं है। ऐसे कलापूर्ण मुद्रित सचित्र विशेषांक का लागत मूल्य केवल आठ रुपये है।

****

सम्मेलन के कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

आचार्य सायण और माधव	६) रु०	मत्स्य पुराण	२०) रु०
तुलसी-दर्शन	५) रु०	वायु पुराण	१२) रु०
गोरखबानी	६) रु०	महावंश	५॥) रु०
हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण	१०) रु०	जातक (छह भागों में)	१०), ८), १०) ८)
पाली साहित्य का इतिहास	१०) रु०		८), ११) रु०
प्रेमघन सर्वस्व भाग १, २	६), १०) रु०	पुराणों में गंगा	३॥) रु०
शिशुपाल-वध महाकाव्य	८) रु०	तपोभूमि	१०) रु०
राजनीति के सिद्धान्त	८) रु०	शंकराचार्य का आचार-दर्शन	५) रु०
आयुर्वेद का इतिहास	२॥) रु०	रश्मिमाला	३।।।) रु०
ज्योति-विहग	५) रु०	भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता	५) रु०
राजस्थानी लोक-गीत	२) रु०	क्रान्तिकारी तुलसी	१०) रु०
भोजपुरी लोक-गीत (दो भाग)	६), १०) रु०	साहित्य और कला	२।) रु०

सहायक मंत्री—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

महान् कलाकारों की प्रारंभिक रचनाएँ उन पद-चिह्नों के समान हैं, जिन पर चल कर सामान्य लोग जीवन और उसके उद्देश्यों का संधान कर सकते हैं

हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित

हार

युग-कवि पं० सुमित्रानन्दन पंत की किशोरावस्था में लिखी गयी सर्व-प्रथम रचना है

यह उपन्यास सब के लिए सर्वोत्तम मार्गदर्शक है

सीमित संस्करण तथा प्रत्येक प्रति पर कवि का तात्कालिक चित्र और हस्ताक्षर

मूल्य, दस रुपए

मुद्रक : रामप्रताप त्रिपाठी, सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग